

वीरप्रतापनाटकम्

वैजयन्तीटीकोपेतम्

श्रीसचतन्त्रस्वतन्त्रैस्साहित्याचार्यैस्सोलनराजगुरुभि-
र्महामहोपाध्यायविद्यावारिध्यादिपदालङ्कृतैः
पण्डितमथुराप्रसाददीक्षितै-
र्विरचितम्

प्रकाशक

महामहोपाध्याय मथुराप्रसाद दीक्षित,
१८२ अस्ती वाराणसी,

प्रकाशक—

म० म० मथुराप्रसाद दीक्षित,
१८२ अस्तो, वाराणसी,

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

मेरी विरचित सर्व प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित
स्थानों से मिल सकती हैं—

मोतीलाल बनारसीदास

पो० ब० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी,

मास्टर खिलाड़ीलाल युक्सेलर

कचौड़ीगल्ली, वाराणसी,

चौखम्मा संस्कृत सिरीज

चौक, वाराणसी,

भूमिका

सच्चिदानन्द स्वर्ण परब्रह्म परमात्माद्वारा अनुभूत आनन्द की अभिव्यक्ति के साधन की विवेचना प्रसङ्गानुपयुक्त तथा दुरूह मानने पर भी हम बलपूर्वक प्रतिपादन करने की धृष्टता कर सकते हैं कि उसकी प्रतिकृति जीवात्मा ने इस आनन्द की उपलब्धि के लिये ललित कला को ही अपना साधन चुना। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, गान और काव्य इन पांच रूपों में सर्वोत्तम तथा सर्वप्रधान एवं न्यूनतम उपादान कारण से समन्वित काव्यकला मधुमती भूमिका में यौगिक सिद्धि के समान जिस लोकोत्तर आनन्द का उद्रेक करती है वह सहृदयों से तिरोहित नहीं है।

इसके दो स्वरूप हैं दृश्य और श्रव्य। एक को नाटक कहते हैं और दूसरे को काव्य। यद्यपि काव्य-साहित्य के जन्मदाता महर्षि वाल्मीकि के काव्य 'रामायण' को कराल काल कवलित न कर सका, परन्तु प्रजापति, सरस्वती और भरत मुनि से एवं अम्भराश्रों से अभिनीत समुद्र-मन्थन, त्रिपुरदाह, लक्ष्मीविजय, जामदग्न्यविजय, कुमुदशेखरविजय तथा शर्मिष्ठा-नयाति नामक नाटकों को इस कुटिल काल ने अतीत के गर्भ में ऐसा तिरोहित कर लिया कि इनके केवल नाम साहित्य ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों से प्रवाहित रस-मयी धारा के दर्शन आज हम इस बोरप्रतार नाटक के रूप में कर रहे हैं।

मुसलिम आक्रमण के अनन्तर संस्कृत साहित्य में नाटकों का निर्माण अब रुद्ध-सा हो गया है। विद्वानों की प्रतिभा टीका ग्रन्थों के निर्माण में प्रखरित हो उठी, परन्तु साहित्य के समुदायकों को इससे सन्तोष नहीं। क्योंकि मौलिक ग्रन्थों की रचना के बिना संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार सम्भवित नहीं। विदेशियों के गुरारविन्द से संस्कृतभाषा के मृतत्व की घोषणा सुनकर किश सहृदय संस्कृत अनुरागो का हृदय क्षोभ से नहीं भर जाता !!

इस समय में नाटक रचना एक दुष्कर कार्य है। आपने न केवल इस दुष्कर कार्य को ही सम्पन्न किया है, वरन एक अपूर्व वीररस प्रधान नाटक की रचना कर संस्कृत साहित्य की वृद्धि की है। आपकी यह कृति एक अमर कृति है और प्रत्येक संस्कृत साहित्य के प्रेमी तथा हितैषी का हृदय आप के प्रति असीम श्रद्धा तथा कृतज्ञता से भरा है। मैं चाहता हूँ विद्वद्गण देखें कि दीक्षितजी ने कितनी मधुर कितनी रम्य कितनी सुन्दर और ओजपूर्ण रचना की है।”

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के चरित्र से अपरिचितत्व रखने वाला पुरुष न तो भारतीय हो सकता और न ऐतिहासिक विद्वान्। महान् अकबर की महत्ता के और महाराणा प्रताप के शौर्य-धैर्य साहस के निदर्शक इस पुरुष में स्वतन्त्रता का पावन प्रेम परिलक्षित होता है। आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन करने के अनन्तर इसमें हिन्दू-मुसलिम विद्वेष की गन्ध भी कहीं नहीं मिलती। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के चरित्र से प्रताप का चरित्र अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट प्रदर्शित किया गया है। स्यालीपुलाकन्याय से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। प्रतिपत्नी की पत्नियों के प्रति दोनों के विचारों से उपर्युक्त अवतरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। एक ओर तो अकबर प्रताप की पत्नी के हरण के लिये आदेश देता है और दूसरी ओर प्रताप के हाथ में आई हुई अकबर की धर्मभगिनी तथा उसके सेनापति की धर्मपत्नी को सम्मानपूर्वक लौटाने का निर्देश करता है।

अकबर:—

ससूनुमेनं मददुविदग्धं मलिभ्लुचं क्षीणबलं द्विपन्तम्।

खलप्रियं याचकघद् भ्रमन्तं निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम् ॥

पष्ठे श्रद्धे ।

अब अकबर के सेनापति की स्त्रियों की चर्चा सुनिये—

से० चरः—महाराज, युष्मत्सेनापतेः पत्नी युष्मार्क धर्मभगिनी सतीभिः सहितैव प्रतापमटैर्निगृहीता ।

अकबरः—कथमिदमध्वाव्यं शृणोमि । (स्वगतम्) .

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता, गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणां जितोऽहमेतेन निपातितः पदे ॥
पद्ये अङ्के ।

जब ये स्त्रियाँ प्रताप के पास लाई जाती हैं तो वह कहता है—

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुलोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।

परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥

तस्मादधुनैव ससुता ससखीमेनामस्थाः स्वामिसविधे नयस्व । मा
स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु । यतः—

पर पुरुष-परीतां निर्जने सञ्चरन्तीं

वहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।

बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं

तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥

सप्तमे अङ्के ।

जब अकबर अपने मेनापति से यह पूछता है कि क्या प्रताप ने
स्त्रियों को दासी बना लिया है, तो वह उत्तर देता है—

सेनापतिः—शान्तम् पापम् । शान्तम् पापम् । तेन तु अनुपदमेव
ताः सर्वा अपि सवहुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः परमौदाय-
सम्पन्नश्च ।

कि बहुना—

परस्त्रियं यो मनसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।

चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन् चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥

सप्तमे अङ्के ।

गत महायुद्ध के (१६३७-१६४८) अवसर पर रुम ने उसी 'घर
फूक' नीति से जर्मनी को व्याकुल कर दिया था, जिस नीति का प्रयोग
महाराणा श्रीप्रतार ने किया था । प्रताप कहते हैं कि—

प्रतापः—सर्वाप्सुपत्यका अन्न-जल-फलादिभिः शून्या विधातव्या ।

तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्ववन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो ज्ञायमानाः समस्ताः
 क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः ।
 सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्युः
 तत्सर्वं नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलाभो रिपूणाम् ॥
 कूपा चाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्यथे वाऽपथे वा
 यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा ।
 तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
 देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या ॥

तृतीये अङ्के ।

इस नाटक का नायक है प्रताप, और प्रतिनायक है अकरर । इसकी
 कथावस्तु है इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटो का युद्ध और भामाशाह की
 आर्थिक सहायता से पुनः राज्यप्राप्ति । इस ऐतिहासिक नाटक में वीररस
 की ऐसी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है कि देखते ही बनता है ।

वीरप्रताप में योगिनीके गान में कितनी सरसता है, उसके प्रत्येक
 पदों में कितनी स्फूर्तिदायिनी शक्ति है—

इसका अवलोकन कीजिये:—

हर हर जय जय देव ।

जय प्रताप जय भारतभूषण जय वसुधाधिप देव ।

जय जय धर्ममार्ग परिरक्षक जय मर्यादा भूष ॥

जय शिशोदियावंशविभूषण जय हरिहर प्रतिरूप ।

जय यवनाधिप मानविमर्दक जय जय विजय महेश ॥

जय तुरुष्क सेनापति मर्दक जय करवाल्सुरेश ।

जय जय मान नगर विध्वंसक जय राजक तारेश ॥

जय जय मान मान विच्छेदक जय मेवाड़ नरेश ।

जय संधी तुरुष्क संप्रार्थित जय सच्चरित दिनेश ॥

जय नरपते स्वतन्त्र धराधिप जय जय जित यवनेश ।

वीरप्रतापे सप्तमे अङ्के ।

इस समय संस्कृत के पुनरुद्धार की कितनी आवश्यकता है इससे अवगत होकर जो लोग इसके लिये कितना प्रचार करते हैं यह विवेचनीय है। नवीन नवीन मौलिक रचनाओं के लिये कितने प्रोत्साहन की आवश्यकता है, धनी दानियों के द्वारा कितने 'दालमिया' 'मङ्गला-प्रसाद' पारितोषिकों की अपेक्षा है और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा कितनी सहयोग की आवश्यकता है इसके बारंबार कहने की जरूरत नहीं है। यदि मौलिक संस्कृत लेखकों के बिना अबलम्बन के बिना कर्णधार संस्कृत समुन्नति का स्वप्न देखते रहेंगे, तो यह इसके लिये हित कर न होगा। अतः यदि ये लोग मुत्तहस्त होकर मौलिक संस्कृत लेखकों का सहयोग करें तो हमारे विचार से वह दिन दूर नहीं जब संस्कृत भाषा भी विश्व में समाहत होकर उच्चासन पा सकेगी। भगवती जगदम्बिका वह दिन शीघ्र ही लाये यही हमारी प्रार्थना है।

भाँसी

सरस्वतीसदन
मार्गशीर्ष २०१८
चन् १९६१ ई०

सदाशिवदीक्षित

श्रीः

वीरप्रतापनाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सूत्रधारः—

या प्रत्यूहपतङ्गमत्तदहने दीप्रप्रदीपायते
या दारिद्र्यमहीध्रपक्षदलने देवेन्द्रवधायते ।
या पाज्ञानतमःसमूहहरणे भास्वन्मयूरायते
सा विष्णोश्चरणारविन्दमुपमा विष्वक् प्रतापायते ॥१॥

येषां वचनमयूरैर्विकाशमायान्ति हृदयकमलानि ।
तेर्मम हृदयनिबामादज्ञानतमो निरास्यते ॥ १ ॥

अभिगीतविद्यानारविषयतया नान्दीरूपेण मङ्गलमारभते—या प्रत्यूह-
इत्यादि । या, प्रत्यूहा विष्ठाः पतङ्गा इव, तेषां सङ्घस्य समूहस्य, दहने सर्व-
तोभायेन विनाशने, देशीप्यमानप्रदीप इव आचरति भाषते । देशीप्यमा-
नप्रदीपस्यैव पतङ्गसङ्घदहने सामर्थ्यमिति कृत्वा दीप्रेत्युक्तम् । तथा या
दारिद्र्यमहीध्रपक्षदली दलने देवेन्द्रवधवदानरति । या न अज्ञानरूपस्य
तमःसमूहस्य हरणे, भास्वन्मयूरायते गुर्यकिरणवत्प्रकाशते । सा
विष्वक् चतसृषु दिक्षु, न तु राज्यदेशानस्थापिनी, एतेन तस्या अनि-
यन्तोपदेशानस्थापित्य प्रमादतेभोदेशिष्णं न व्यङ्गते । विष्णोश्चर-
णारविन्दयोः, गुणमा-अत्युत्कृष्टाया शोभा, 'गुणमा परमा शोभा'
इत्यमरः । प्रतापायते प्रभार इव आचरति । अथ प्रथमचरणेन ऊर्ध्व-
प्रधारितं, द्वितीयचरणेन तिर्यक्प्रधारितं, तृतीयचरणेन अधः प्रधारितं
याप्यते, तथैव तेषां स्वभावात्, विधुत्तदगुणमायाश्च सर्वतः प्रधारितम् ।

अत्र प्रदीपकुलिशसूर्याणामुष्णस्वभावाच्चरणसुप्रमायाश्च शैत्यबोध-
नाय चरणाञ्जयोरभेदप्रतिपादनम् । प्रतापायते इति । प्रतापः-सर्वरा-
जाना मुकुटभूत आर्यपतियो महाराजाप्रतापः, तद्वदाचरति । प्रतापोऽपि
प्रत्यूहस्वरूपस्य अक्षरसैन्यपतङ्गसमूहस्य विनाशने देदीप्यमानप्रदीप
इवाचरति । उक्तं हि मनुना “याणाऽपि नायमन्तव्यो मनुष्य इति
भूमिषः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति” । ७ । ८ । एकमेव
दहत्यग्निर्नरं दुर्यधर्मिणम् । कुलं दहति राजाग्निं सपशुद्रव्यसन्धयम् ।”
७।६॥ देवेन्द्रवज्रघाटशयप्रतिभदनात् बहुदानित्वं तेन दारिद्र्यस्य
समूलोच्छेदकत्वं व्यज्यते । या अज्ञानतमःसमूहहरणे भास्वन्मयूखायते ।
एव च हल्दीपाटिकयुद्धसघट्टे सैन्यता बहिर्गमन एव देशरक्षेत्यादिशानो-
दयात्स्वत एव भास्वन्मयूखायित्वम् । मनुनाऽपि राज्ञः सूर्यसमत्वमुक्तम्
‘तस्यादित्यवच्चैष चक्षुषि च मनासि च । न चैनं भुवि शक्नोति काश्चि-
दप्यभिवोक्तिनुम्’ । ७ । ६॥ इति । अत्र पतङ्गसङ्घसदृशस्य अक्षरसैन्य-
दहनस्य, अभिमतधनप्राप्तेः, हल्दीपाटिकयुद्धसघट्टे बहिर्गमनस्य च वर्णा-
नीयप्रत्यविषयस्य व्यङ्ग्यरूपेण प्रतिपादनात् बीजरूपं वस्तु व्यज्यते ।

ननु “पूर्वपङ्क विधायैव सूत्रधारो निरर्तते । प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्का-
ण्यमास्थायैस्ततः । ६ । २६ ॥ दिव्यमर्त्ये म तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूत्रयेद्भस्तु बीजं वा मुत्र पात्रमथापि वा । ६ । २७॥” एतेन “सूत्रधारः
पूर्वपङ्क विधाय निरर्तते, तदन्तर स्थापकः प्रविश्य बीजादि वस्तु
सूत्रयेत्” इति वाच्यते, इह तु पूर्वपङ्कमनिरूप्य स्थापककरणीय बीजवस्तु-
गुणनैव सूत्रधारेण नियते तत्कथं युज्यते । इति चेच्छृणु । अत्र प्रतिपाद-
नीयप्रत्यविषय एव व्यज्यते न तु स्फुटतया पात्रप्रवेशयोग्यत्वेन सूत्रयेत् ।
अत एव न तथाभूतमनुद्वेष्टात्तमादाय पात्रप्रवेशः कार्यते । ननु पूर्वपङ्क-
मप्रदश्यं कण पूर्वमेव नान्दी उपनिरज्यते । तथापि नियमः-“पूर्वपङ्क
विधायैव सूत्रधारा निरर्तते” अत्र विधायैवेत्यत्रैवकारेण अयोग्यव्यवच्छे-
दायशोभनासूत्रधाराऽन्तरं पूर्वपङ्क विद्वेषादिभि प्रतिपाद्यते । पुनस्तत्रैव
पूर्वपङ्कवर्णनिरूपणान्तरे तेनेन “यत्राव्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गिणोरशान्तये ।
कुशाणशः प्रदृशन्ति पूर्वपङ्कः न उच्यते” इत्येवं कुशाणशैः क्रियमाचरत्यैव

पूर्वरङ्गत्वमुक्तम् । सूत्रधारकृतस्य तु पूर्वरङ्गतैव नास्ति तत्कथं युज्यते, कथं वा कुशीलवकरणाय सूत्रधारकृतौ विरोधं परिह्रियते । अत्रैवमवगन्तव्यम् । सूत्रधारस्थापक-कुशीलव-नटानां कार्याणि सूत्रधार एव कुर्यात्, तथा सत्येव नाटके रोचकता सपद्यते, अन्यथा करणे प्रत्युत सामाजिकानां वैमुख्यं स्यात्, सामाजिका विचारयिष्यन्ति किमर्थमयं पूर्वरङ्गमात्रं नान्दीमात्रं वा कृत्वा निवृत्तः, यदि प्ररोचना प्रस्तापना वा अयमेव कुर्यात्तदापि शोभनमेव भवेत् । वस्तुतस्तु सामाजिकानां वैमुरयोत्पादकत्व, सहृदयहृदयोद्वेजकत्व वा दृश्यश्रव्यकाव्येषु दोषकताबीजम् । तद्वीजं यदि सूत्रधारमात्रेण नान्दाप्रस्तावनादिके सकृत् कार्ये कृते न प्रतिभासते तदा न काऽपि क्षतिः । अत एव प्रायशः समस्तैः कविभिः सूत्रधारेणैव नान्दीप्रस्तावनादि सकलं कार्यते । न च क्वचिदपि पूर्वरङ्गनान्द्यौः पार्यव्ययेन क्रियमाणे दृश्यते । अत्रेदं तत्त्वम् । उहुभिः कुशीलवादिभिः सहितेन सूत्रधारेण पूर्वरङ्गं क्रियते, तत्फलं रङ्गविघ्नोपशान्तिरेव । तस्य पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यङ्गानि तत्र नान्दीरूपमङ्गमवश्यं सूत्रधारेण कर्तव्यम्, तत्फलमपि विघ्नोपशान्तिरेव । एव च 'तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये' इति आवश्यकत्वेन तत्करणेनैव विघ्नोपशान्तौ तदर्थं क्रियमाणं पूर्वरङ्गाऽन्यथासिद्धः । अत एव न तथारूपेण कैश्चिदपि कविभिः प्रयुज्यते । यदपि सूत्रधारकुशीलवैः क्रियमाणे विरोध-प्रदर्शनं क्रियते तत्राप्येव यत्तव्यम् कुशीलवैः सहितेनैव सूत्रधारेण पूर्वरङ्गः क्रियते । यदि कुशीलवा केनापि कारणेन नापरिस्थिता भवेयुस्तदा सूत्रधारस्तु अवश्यमेव एकेन द्वाभ्यां वा कुशीलवाभ्यां पूर्वरङ्गं कुर्यात् । ननु तर्हि कुतो नैवमुपनिबध्यते, हन्त ! कथं तदन्वयासिद्धत्वप्रतिपादनं विस्मयते । ननु तर्हि कथं नाट्यशास्त्रकारेण विश्वनाथेन च तथा वर्णितम्, कथं वा तदङ्गानि नाट्यशास्त्रकारेण दर्शितानोति चेदुच्यते-तत्र यदि विस्तारप्रदर्शनपूर्वकं प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यङ्गानि कश्चिदुपनिबध्नात् तदापि न क्षतिः । परं तु तथाकरणे नातिशयचमत्कारित्वमवगम्यते, अत एव न कैश्चिदपि प्राच्यैः प्राचानैर्वा कविभिस्तथापनिबद्धमिति तदनुसारिणा मयाऽपि न तथापनिबध्यत इति ।

यत्कृपालवमात्रेण मूकोऽप्यायाति वाग्मिताम् ।
स एव देवदेवेशः शंकरः शं करोतु नः ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते)

पुनः स्वकार्यसिद्धौ वाग्मितामेव कारण मन्यमानस्तद्गुणप्रापकात् शंकरास्कल्याण प्रार्ययते-यत्कृपा-इति । यस्य सकलचराचरप्रसिद्धस्य, कृपाया लवमात्रेण-लेशमात्रेण, 'लवलेशकषाण्य' इत्यमरः । मूकोऽपि वाग्मितामायाति, सर्वथा यचनमात्रेणापि रहितो मूको धावदूकेष्वपि वाचोयुक्तिप्रवीणो भवति । एतेन कारणनिरपेक्षकार्यसंपादनसामर्थ्यवत्त्वात्तस्य सर्वलोकातिशयित्वं व्यज्यते । उक्तं हि 'न खलु परतन्नाः प्रमुधियः' । स एव देवदेवानामिन्द्रादीनामीशः । शंकरः-शं कल्याण करोतीति शंकरः । एतेन कल्याणकारित्वं तत्स्वभाव एवेत्यतो न मे प्रार्थनाविफल्य-समावनाऽपीति भावः । न-अस्माकं समासदा नटादीनां च, शं कल्याण करोतु ।

'नान्द्यन्ते' इति । इयं नान्दी, अष्टाभि पदैरुपनिबद्धा, तथा चोक्तम् । "पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत" । अत्र सुप्तिङन्तौर्द्वादशभिः पदैः, श्लोकचतुर्थभागमेकं पदं मत्वा अष्टाभिर्वा पदैर्नान्दी भवति । तथा च श्लोकरुद्धयात्मिका अष्टपदीय नान्दी । यद्वा 'या प्रत्युहे' ति पूर्वश्लोकः पूर्वरङ्गः, 'यत्कृपालवे' ति द्वितीयश्लोकः सुप्तिङन्तौर्द्वादशभिः पदैरुत्तमा नान्दी । उक्तं च मन्दारमकरन्दे 'अष्टभिर्दशभिः श्रेष्ठा तथा द्वादशभिः पदैः । अष्टादशपदैर्वाऽपि द्वाविंशत्या पदैर्युता' इति । ननु यदि पूर्व-श्लोकं पूर्वरङ्गात्मकस्तर्हि पूर्वरङ्ग विधाय सूत्रधारः कथं न निवर्तते, इति चेदुच्यते-नान्द्या अपि पूर्वरङ्गस्यैवाङ्गत्वात्तत्रापि पूर्वङ्गतैव । किञ्च स्थापककुशीलवादीनामपि कार्याणि सूत्रधारेणैव क्रियमाणानि सर्वनाटकेषूपनिबद्धानीति पूर्वं प्रतिपादितमेव । सूत्रधारस्य तथाविधमेव चातुर्यं यत्सर्वमेव प्ररोचनाप्रस्ताननादिकं कर्तुं प्रभवति । उक्तं च 'नाट्योपकरणदीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रधारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते' । मानृगुप्ताचार्यैरप्युक्तम् 'चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभयासमावृत । नाना-

आज्ञप्तोऽहं विद्वत्परिपदा, यदिदानो भारते देशे हीन-
दीनदशामापन्नानां वीराणां शौर्यसाहससहिष्णुतागुणाना-
मुद्योतनाय परकाष्ठामापत्तिं भजमानानां पौर्व-
कालिकक्षत्रियाणां शौर्यधैर्याद्यभिनयेन भाविनवयुवकेषु
तत्तद्गुणसंपादनाय, प्रसादनिर्णयरत्नाकरादिविविध-
ग्रन्थनिर्मात्रा मथुराप्रसाददीक्षितेन प्रणीतेन अभिनवेन

भाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ नानागतिप्रचारज्ञो रसभाव-
विशारद । नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वित ॥ छन्दोविधान-
तत्त्वज्ञ सर्वशास्त्रविचक्षणः । तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारण ॥ श्रव-
धाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशक । एव गुणगणोपेत' सूत्रधारोऽभिधी-
यते" ॥ इति ।

एव च श्लोकरुद्धात्मकाष्टपद्याः 'यत्कृपे'ति द्वादशपदात्मिकाया वा
नान्या अन्ते पुन सूत्रधारो भारतीवृत्त्या समासदा प्ररोचना कुरुते ।
'प्रशसात प्रशचना'इत्युक्ते । तत्स्वरूपम्—श्रोतृदृष्ट्या प्रवृत्तौ उन्मुखी-
करणम् । तच्चाग्रिमव्याख्यातः स्वत एव स्फुटोभविष्यति । आज्ञप्त इति ।
अहम् साक्षादेव न तु केनापि सदेशद्वारेण । तत्रापि विद्वत्परिपदा, न तु
एकेन केनापि सामान्यपुरुषेण । एरुपुत्र्यादिष्ट कदाचिदन्यमनस्कतया
अभिनिवेशतो वा अन्यथाऽपि भवेत् विद्वत्परिपदादिष्ट नान्यथा भवितुम-
र्हति । तत्रापि आज्ञप्तः, न तु कथित एव । एतेन तद्वचनानामनुल्लङ्घनीयत्वं
ध्यज्यते । तथा च परिपदेन नाटकग्रन्थ पूर्वमवगत्य मामभिनेतुमाज्ञा-
पयति । एतेन वक्ष्यमाणवस्तुनि आदरातिशयो बोध्यते । अथाज्ञामेव
दर्शयति । इदानीम् अधुना हीना-नीचाम्, दीनाम्-दुःखग्रहलाम्,
दशाम्-द्विषतिम्, आपन्नाना प्राप्ताना वीराणाम्, शौर्यादिगुणोद्यो-
तनाय-यद्यपि गुणगुणिनीरभेदेनोपस्यानात् वीरेषु शौर्यादयो गुणाः
सन्त्येव, तथापि हीनदीनदशात्वेन ह्युत्तप्रापाणा गुणानामुद्दीपनाय । तथा
अधुना जनिष्यमाणेषु नवयुवकेषु शौर्यधैर्यादिगुणाना संपादनाय बोध-
नाय । यद्यपि तेषु ते गुणाः सन्त्येव तथापि न ते स्वात्मनि विद्यमाना-

वीरप्रतापनाटकेनोपस्थातव्यमिति प्रतिपात्र' विधीयतां
यत्नः ।

(मनसि) अस्तु तावन्नटीमाह्वयामि ।

स्तान् गुणान् जानन्तीति 'भवन्तः शूरा धीराश्च' इति बोधयितुम् ।
'परकाष्ठाभिति' कन्दरादिनिवासभूशयनोपवासादिचरमदशावस्थायिनीमा-
पत्तिं सेवमानानां पूर्वकालसमुत्पन्नानां क्षत्रियाणाम् महाराणाप्रतापानाम् ।
अत्र आदरार्थं बहुवचनम् । 'शौर्यादीनामभिनयेन' इति । आदिशब्दाद्
धैर्यसाहससहिष्णुतानां ग्रहणम् ।

'प्रसाद' इति । चन्दवरदायिप्रणीतप्राकृतसमिश्रितस्य टीकाभाष्या-
द्यभाषेन विदुषामपि दुर्बोधस्य 'पृथ्वीराजराजा' इत्यभिधेयस्य महाकाव्य-
स्य लौकिकभाषाया सरलशब्दैः प्रसादाभिधेयटीकायाः, निर्णयसिन्ध्वा-
दिग्रन्थेषु सत्स्वपि धर्मशास्त्रीयविद्वाद्ग्रन्थविषयाणां जागरूकत्वाद् धर्म-
मार्तण्ड-वधाटाधिपति-श्रीराजाधिराजदुर्गासिंहमहोदयानामनुरोधेन 'निर्ण-
यरत्नाकर' नामकस्य प्रबन्धस्य, निखिलजैनशास्त्रमालोड्य वृहदाकारम-
यस्य सप्तभागात्मकस्य (जैनसाङ्गलोपाडिया) अग्निधानराजेन्द्रकोपस्य
निर्माणसहायकेन । आदिपदात् नारायणवलिनिर्णय-कुतर्कतर्ककुठार-
सामासचिन्तामणि-कवितारहस्य - काशीशास्त्रार्थ-कलिदूतमुखमर्दन-वर्ण-
संकरजातिनिर्णय अस्पृश्यमन्दिरप्रवेशनिर्णय-जैनरहस्य-भगवद् (विष्णु)
नखशिखवर्णनादीनां ग्रहणं बोध्यम् । मथुराप्रसाद-इति । 'रूपकस्य
कवेराख्या गोत्राद्यपि स कीर्तयेद्' इति नियमात्कविना नामनिर्देशः कृतः ।
दीक्षितेन-इति । अयमुपाधिः कवेरष्टमपूर्वपुरुषेण वैदिकप्रक्रियानिपुणेन
कर्मठेन कान्यकुब्जेन श्रीकान्तनाम्ना यज्ञे वैदिकमन्त्रैरग्निप्रादुर्भावाद्
यज्ञकरणान्चोपलब्धः । तद्वशीयाः सर्वेऽपि कान्यकुब्जेषु श्रेष्ठाः श्रीकान्तदी-
क्षितेत्युपाधिभूयिताश्च मन्यन्ते । दीक्षितस्येति तदुपाधेरेव प्राचान्येन
विरोध्यत्वान्नाम्नः पूर्वनिपातः । अभिनवेन-इति । अधुनासमये नाट-
कीयप्राकृतभाषाया विद्वत्स्वप्नचाराद् भरतप्रणीतनियमानुकूलनाटकनिर्माणे
विदुषामप्रवृत्तेः । अनवलोकितपूर्वत्वाद्वा अस्याभिनवत्वम् । यद्-यस्मात्का-

(प्रकाशम्) अयि प्रिये ! (यवनिकातः)

नटी—अञ्ज ! इयं म्हि ।

आर्य ! इयमस्मि ।

(ततः प्रविशति गायन्ती नटी)

हंसट्ठाणं करडो लहइ वुहो तं गु को वि वारेइ ।

हसस्थानं करटो लभते बुघस्त न कोऽपि वास्यति ।

उअ सारंगवलायाकदम्बएहिं हठाउ नीसरिओ ॥ ३ ॥

पश्य-सारङ्ग-चलाकाकदम्बके

हठान्नि मारित ॥

रणात् मया घोरप्रनापनाटकेनोपस्थातव्यमिति हेतो प्रतिपाद्य यत्नो
विधीयताम् । यत्तदोर्नित्यसयन्धात्तर्यर्योघकेन इतीत्यनेन यदित्यस्य
सयन्ध इति ।

‘आशतोऽहम्’ इत्यारभ्य भारती वृत्तिः । तल्लक्षणं चैवम्—‘भारती
संस्कृतप्रायो वाग्व्यारारो नटाश्रय । भेदे परोचनायुक्तैर्भूधोप्रहसनामुरै’
इति । ‘अयि प्रिये-इति । अयि इति सयोपने । प्रिये ! दयिते ! ‘मुल-
दुग्गादिषु महन्तरिणि ! एतेन विद्वत्परिपदाशापालने सर्वथा सहायकत्व-
मस्या अभिव्यज्यते । आर्य इति । नटीसूत्रभृद्म्या परस्पराङ्गानमायंशन्देन
कर्तव्यम् । तथा चोक्तम् ‘भगवन्तोऽधैरग्न्या विद्वद्देशपिलिङ्गिनः ।
त्रिप्रामात्याप्रजाधार्या नटीगूत्रभृतौ मिथ ’ इति । इयमस्मि-भवतः सन्नि-
कृष्टमेवागनाऽस्मि । इदमस्तु सन्निकृष्टवर्तिनि नियमात् ।

हंसट्ठाणम् इति । फट्ट-काकः, ‘काके तु करटारिष्टवलिपुष्टकृ-
ष्या’ इत्यमर । भक्ष्यामक्षयवियेकशून्य काक, सदसत्परिज्ञानरहितः
काक इय भौकः परस्त्रीश्लेषटः पुरुषविशेषश्च । काकस्वरूपपारिणा जयन्तेन
अगञ्जनी सोना अभिलषिता, तत्रो रामेशौकवायेन काकोऽद्या काशी-
कृत इति काकस्य परस्त्रीकामुकत्वं प्रसिद्धम् । हसस्य नीरतीरिमेदन्व-
रस्य, अथ च मुक्तमुक्तशिवेककुशलस्य पुरुषविशेषस्य, स्थान-वर्ध, राग्य-
सिहासनं च । लभते-प्राप्नोति, प्राप्तुमुद्युक्त एव, न तु अद्यावधि प्राप्तः ।

सूत्रधारः—

आर्येऽनया तु गीत्या मे मेवाडं नीयते मनः ।

प्रतापांशं यत्र गृह्णन्—(इत्यधोक्ते एव)

त करट पुरुष च, कोऽपि बुध पण्डितः, देशदशातत्त्वज्ञश्च । पत्तिपु
शुकस्य पण्डितत्व प्रसिद्धम्, कादम्बर्यामुपन्यासे पूर्वजन्मस्मरणात् अध्यय-
नशीलत्वात् । बोधयतीत्यन्तर्भावित्वात् जयं बुध्यते इति बुधः । तुलसीदासः
शुकरूपधारिणा हनुमता बोधित इति प्रसिद्धम् । न वारयति-नैव निवार-
यतीत्यर्थः । उअ पश्य । सारङ्गः-चातक, बलाका-वकस्त्रियः, तेषा
कदम्बकैः समूहैः, हठान्निःसारितः । अन्यत्र साराङ्गाः साराणि अङ्गानि
येषां ते साराङ्गा हृष्टपुष्टाङ्गाः । सारङ्गः पशुपत्तिणो । एतयोरेवार्यं शक-
न्वादौ पाठः अन्यत्र साराङ्ग इति । तथा ब्रह्मेण सेनया, अकति गच्छ-
तीति बलाक-सेनापतिः, तेषामोपत् कदम्बकैः समूहैः हठान्निःसारितः ।
राज्यसिंहासनमारोहमिच्छन्नेव जगन्मल्लो रावतकृष्णादिभिर्निःसारित इति
भावः ।

सूत्रधार. 'साराङ्गबलाकाकदम्बकैः' पदैर्बोधित द्वितीयार्थमवगत्य कथ-
यति-आर्ये ! नाट्यप्रयोगचतुरेषु श्रेष्ठतमे ! एतेन तस्याः स्वकार्यज्ञमत्त्व
ज्ञोत्यते । अनया प्रत्यक्षत धृतया गात्या तु गीतिनामकच्छन्दसा अथवा
गानेन तु मे मनः मेवाडं नीयते । यत्र नीयते' इह 'गीणे कर्मणि
दुष्पादेः प्रधाने नीहृक्पूर्वहाम्'इत्युक्ते. प्रधानकर्मणि प्रत्ययः । यत्र यस्मिन्
मेवाडदेशे, प्रतापाश-प्रतापस्य, अशम् अधिकार गृह्णन्, ज्येष्ठभ्रातृत्वा-
त्तस्यैव राज्येऽधिकार इति । इति-अर्थात्तमेव श्रुत्वा केनापि विपत्तिणा
गृह्यमाण स्वराज्याशमवगत्य नेत्रस्थे कुत्रचिद् अत्रत्यक्षत्रियस्थाने स्थितः
प्रतापः सक्रोध कथयति । आः कष्टम् ।

एव प्रजापालकनया मयि स्थिते शौर्यधैर्यादिविशेषगुणविशिष्टे
निर्भीकतया युद्धभूमौ विद्यमाने सति को नाम ममाशम् अशुभात्रमपि
मदीयमागं गृहीतु-हठादास्कन्दितुं शक्नोति । न कोऽपीत्यर्थः । 'जगदिति'
पूर्वेण सबन्धः । यत्र प्रतापांशं गृह्णन्, जगत्-जगन्मल्लनामा प्रतापस्य

(नेपथ्ये)

आः, क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति ।

सूत्रधारः—

जगत् कृष्णैर्निवारितः ॥ ४ ॥

(इति ब्रुवन् निष्क्रान्तः सनटीकः सूत्रधारः)

(प्रस्तावना ।)

(आः क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति इति पठन् प्रविशति
सालुम्बसहितः प्रतापः ।)

लघुध्राता । उत्तरपदलोपाद् भीमादिशब्दवत्पूर्वपदमात्रेण जगदित्यनेन
जगन्मल्लस्य ग्रहणम् । कृष्णैः रावतकृष्णादिभिः, निवारितः—इटात्प्रति-
पिद्धः ॥ ४ ॥

अथ स्वरसयोगेन प्रतापागमनमवगत्य नटीसहितः सूत्रधारो
निष्क्रान्तः । इति प्रस्तावना—“सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य
वा । भवेत्तत्रप्रवेशश्चेत्कयोद्धातः स उच्यते” इति कयोद्धाताया
प्रस्तावना ।

ततः—आः क एवमित्यादि पठन् रङ्गभूमौ सालुम्बसहितः प्रतापः
प्रविशति । मद्भागेत्यारभ्य आम् ज्ञातमित्यादि सुगमम् । अथेति । यत्पिना
जगन्मल्लाय राज्यं दत्त तदेवोद्दिश्य केनाप्युच्यते इति निश्चयानन्तरं
किञ्चित्परिक्रामन्ठति । लोकव्यवहारेऽपि काऽपि अभिनिविष्टस्तथाभूत-
परामर्शं एवमेव करोति ।

किं पठतीत्याह—किं स्वातन्त्र्येति । किमिति परामर्शं । किं
स्वातन्त्र्यार्थं, मया स्वस्य-आत्मनो, बान्धवेषु जगन्मल्लादिवान्धवेषु,
जनेषु-साधारणजनेषु च । अनादगतिशयात् स्वबान्धवजने इत्यत्रैक-
वचनम् । हेतिः वह्निज्वाला, गृह्यताम् । अथ मायः स्वातन्त्र्यमुद्घा
विधीयमाने यत्ने गृहकलहाग्निज्वालाया सर्गानपि आत्मना बान्धव-
प्रजादीश्च भस्मसात्कुर्याम् । यद्वा-किं स्वातन्त्र्यार्थं, स्वे-स्वकीये, बान्ध-
वजने जगन्मल्ले, हेतिः शस्त्रं, गृह्यताम्, तज्जनेन राज्यप्राप्त्यर्थमिति
भावः । किं वा, स्व विषयं विहाय, राज्यतः स्वकीयं संबन्धं विच्छिद्य ।

(इतस्ततोऽवलोक्य—) मद्भागहरणबुद्धिर्गर्वप्रध्वस्तभागवेयोऽसौ ।

कोपानले पिपतिपुर्धावति को यमपुरीं गन्तुम् ॥५॥

विमृश्य—आम् ! ज्ञानम् । पित्रा जगन्मल्लाय राज्यं दत्ताम् । तदेवो-
द्दिश्य केनाप्युच्यते । (अथ किञ्चित्परिक्रामन् पठति)

किं स्वातन्त्र्यकृते स्वयान्धवजने हेतिर्मया गृह्यतां

किं वा स्वं विषयं विहाय विपिनं शान्त्या समासेन्यताम् ।

संघर्षात्त्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना

वाढं वा मरणं भवेन्मम न तु स्यान्म्लेच्छदृष्ट्या धरा ॥६॥

(इति विमृशन्पुनरितस्ततः परिक्रामति ।)

किमौर्ध्वदैहिकं कृत्यं पितुः पूर्वं विधीयताम् ।

किं वा देशपरित्याग इति दोलायते मनः ॥ ७ ॥

यद्वा स्व विषयं-देश, विहाय त्यक्त्वा, शान्त्या-शान्तिपूर्वक, विपिनम्-
अरण्य समासेन्यताम् । मोक्षेच्छया शान्तिपूर्वकमेव तत्सेवन, न तु
भयेन कातरधिया वेति भावः । एतदेव समर्थयति । स्वजनेषु स्वकीय-
वन्धुवर्गेषु, संघर्षात् परस्परकलहेन शक्तिव्यात्, अधुना मे प्रजाः स्वस्य
राज्येऽधिकारान्मम प्रजा. दास्यपदवीं दासताया मार्गं मा गात् प्रजासु नै-
कोऽपि दासता व्रजेदित्येकवचनम् । यद्वा प्रजा मम सन्ततिः । 'प्रजा स्यात्
सन्तती जने' इत्यमरः । यद्यपि जाते संघर्षे इदानीमेव दासता न प्राप्स्यति
पर त्वेव सति दास्यपदवी निर्मिता भविष्यतीति तन्निर्मितौ प्रजा ता पदवीं
प्राप्स्यतीत्यर्थः । वा अथवा वाढ-निश्चयेन, मम मरणं भवेत् । मया
संघर्षाभित्या राज्यत्यागादरण्यगमने कृते यान्धवो निष्कण्टकराज्यापभोग-
बुद्ध्या मा कण्टक मन्यमानोऽरण्ये मा हनिष्यतीति इन्तु नाम, पर मम
धरा म्लेच्छदृष्ट्या न स्यात्, म्लेच्छेन यवनाधिपतिना अकबरेण दृष्टा अपि
न स्यात् किमुत तदाधिपत्य स्यात् । अत्र स्वकीयमरणादपि अकबरकृत-
स्वकीयधरादर्शनमनिष्टकरमिति तात्पर्यार्थः ॥ ६ ॥

अथ देशत्यागनिश्चयेऽपि किमधुनैव देशत्याग कर्तव्यः, किं वा पितु-
रौर्ध्वदैहिकक्रियानन्तरमिति विचारयति—किमौर्ध्वदैहिकमिति । किम्-
ऊर्ध्वदेहनिष्पादक पूर्वं पितुः कृत्य दशगात्रादिक विधीयताम्, मयेत्यध्या-

(सालुम्बममिलक्ष्य) आः पश्य, प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः इत एव वितानप्रदेशे समायाति । अत आवां दूरस्थितौ भूत्वा तत्रोपविश्य पश्यावः—‘किमसौ विदधाति ।’ (इति तथा कुस्तः ।)

(ततः प्रविशति वितानप्रदेशे विटचेटक-चूडावत्प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः । अथ सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति)

प्र० मन्त्री—महाराज ! ज्ञातिदेशप्रथानुरोधेन पूर्वं राज्यपीठाधिरोहणं विधाय अभिषेकानन्तरमेव पितुरौर्ध्वदैहिकी क्रिया कर्तव्या ।

हार्यम् । किं वा तताऽपि पूर्वमेव देशपरित्यागः विधीयताम्, इति मे मम मनः, दोलायते—दोलेव कदाचित्पूर्वविचाराश्रयि भवति, कदाचिदुत्तरविचाराश्रयि भवति । यद्वा-दोलेव कदाचिद् ओजोगुणप्राधान्याद्वीरसाश्रयिता ऊर्ध्वं गच्छति । कदाचिच्च हिंसाबाहुल्यात् अनिष्टशङ्कया च वैराग्यात् अधो गच्छति । यद्वा-पितुः कृत्यसंपादनार्थं युद्धकरणे हिंसाबाहुल्यात् अधो गच्छति, वैराग्यात्पाराहित्येन ऊर्ध्वं गच्छति । द्विविधा दोला भवतीति तथैव व्याख्यातमिति । ‘रूपवान्य वितर्कवद्’ इति लक्षणात् रूपाख्य गर्माङ्गम् ॥ ७ ॥

सालुम्बमिति । सालुम्बं प्रति कथयति—आः पश्येत्यादि ।

विटचेटकेति । एते नायकस्य सहायका भवन्ति । तथा चोक्तम्—‘शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः । भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानमञ्जनाः शुद्धाः ।’ अस्य नायकस्य प्रतिनायकस्य च सहाया एते । प्रधाननायकस्यैवेति तु न नियमः । अत एव मृच्छकटिके शकारस्याप्येते सहाया दर्शिताः । तत्र विटः—“संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः । वेशोपचारकुशलो चाग्नी मधुरोऽय बहुमतो गोष्ठयाम्” । चेटः—शृङ्गारिकोऽनुचारः । प्रथानुरोधेनेति । अत्रेदं बीजम्—राज्यपीठाधिरोहणात्पूर्वमेव विधीयमाने मृतस्य पूर्वराजस्य दाहे यावत्काल कश्चित् राजा सिंहासने नोपविशति तावत्कालमराजक तद्राज्य संपद्यते । अनन्तरमवश्वापरः प्रत्यनीकराजः आक्रमेत, अनधिकारिकश्चावकाशमादाय केषाचित्सा-

विटः—युज्यते चैवम् । अतो राज्याभिषेकोत्सवे पूर्वं द्राक्षायाः
सुरा आनीयताम्, गणिका च ।

जगन्मल्लः—चेटक ! युक्तमुक्तं विटेन, अतस्त्वरितमेव राज्या-
भिषेकोत्सवानुरूपं सर्वं संपादनीयम् ।

चेटकः—जं देवो आणवैदि ।

यद् देवः आशापयति ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह मार्गं गच्छति चेटः ।)

चेटः—अयि मातुले !

अयि मातुलि !

अज्ज रज्जुच्छवे तुज्झ धणं दावेमि जं बहु ।

अद्य राज्योत्सवे तुभ्य धन दापयामि यद् बहु ।

तयद्धभागो अम्हाण तुम्हे त्ति पडिवज्जह् ॥ ८ ॥

तदर्धभागोऽस्माकं यूयमिति प्रतिपद्यध्वम् ॥ ८ ॥

हाय्येनाधिपत्यं गच्छेच्च । और्ध्वदैहिकीति । दाहानन्तर दशगात्रीयपि-
रडादिभिः सपालमाना । राज्याभिषेकोत्सवानुरूपमिति राज्याभिषेकौ-
हेशिकस्य उत्सवस्यानुरूपमिति भावः । तदनु रूपं च नृत्यगानमुद्योगाना-
दिकमेवेति तत्तात्पर्यम् । अयीति । अयि इति संबोधने । 'मातुलि' इति
नीचानामुक्तयः । प्रायशो मातुलादिसम्बन्धाभावेऽपि तथा व्रुवन्ति ।

अज्जेति । अद्य राज्योत्सवावसरे यद् बहु धन द्रव्यवस्त्रादिकं तुभ्यं
दापयामि दापयिष्यामि । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इयि भविष्यदर्थे
लट् । तदर्धभागः—तस्य प्राप्यद्रव्यस्य अर्द्धभागः, अस्माकं भवतु, यूयम्,
इति मदुक्तं स्वीकुरुत । अर्धैकवचनस्य प्रकान्तत्वेऽपि अस्मादो द्वयोश्चेत्येक-
वचने बहुवचनम् ॥ ८ ॥

तुभ्यमिति । 'दृश्यमाना प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ।

आः कुर्वन्तीति—आः इति अत्यन्तदुःखप्रदर्शनानुरूपे । कुर्वन्तीति
क्रियया एते इत्याहियते एते लोकाः, दिवं गतस्यापि—स्वर्गं गतस्यापि,
मदिरा सुरा पीत्वा, ऊर्ध्वक्रिया—दशगात्रीयपिरडादिना ऊर्ध्वदेहसंबन्धिनी

वेश्या—यथा तुभ्यं रोचते ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह गच्छन्त चेट विलोक्य
विलपति प्रतापः ।)

प्रतापः—आ कुर्वन्ति दिवं गतस्य मदिरां पीत्वा पितुर्दुष्क्रियां
किं कुर्यां, वसुधे, पिधेहि ननु मां स्वाङ्गे, चिरं मा कृयाः ।
यत्तातः क्रिययाऽनया विहितया सद्भार्मिकाणां वरो
देवत्वादपनाय्य जीवति मयि प्रेतत्वमापाद्यते ॥ ६ ॥

(इत्युद्विग्नमना दीर्घमुच्छ्वसिति ।)

क्रिया कुर्वन्ति । प्रकृतत्वात् येन पित्रा अस्मै राज्यं दत्तं तस्य दिवं गतस्य
पितुरिति बोध्यम् । एतेन महाकृतघ्नोऽकार्यकारी चायमिति व्यज्यते । अथ
उभयसाधारणं जनकत्वसम्बन्धमवगत्योद्विग्नः सन् कथयति किं
कुर्यामित्यादि । प्रधानमन्त्रिणः पक्षपातित्वात्, पित्राऽस्मै एव राज्याधि-
कारदानात्, हठाद्विरुद्धाचरणे गृहकलहाग्निभयादनिष्टशङ्कातश्च किकर्त-
व्यताविमूढः कथयति—किं कुर्यामिति । नाहमिदानीं किमपि कर्तुं शक्तः ।
तस्मात् हे वसुधे ! ननु निश्चयेन मा प्रताप स्वाङ्गे स्वकीयोत्सङ्गे, 'उत्सङ्ग-
चिह्नयोरङ्गः' इत्यमरः । पिधेहि—आच्छादय । विदोषां सती त्वं मा स्वान्त
स्थापयेति तात्पर्यायः । चिरं मा कृयाः, विलम्बं न विधेहि । 'माडि लुट्'
इति लुट् । विलम्बासहस्रे हेतुः प्रदर्शयति । यद् यस्मात् कारणात्,
सद्भार्मिकाणाम् उत्तमधर्माचारिणां वरः, एतेन शिवाराधनमगवद्भक्त्या-
द्युत्तमधर्माचारिणुः सर्वोत्तमस्वस्य सूचितं भवति । एवमूतस्तातः, विहितया
कृतया मद्यपानस्य पूर्वं कृतत्वात् करिष्यमाणानामपि अपरेषामङ्गानां
तद्दूषितत्वमविरुद्धमेव । अनया पुरो दृश्यमानया वेश्यासर्गादिदूषितया
क्रियया, मयि जीवति सति देवत्वादपनीयं स्वकृतकर्मप्रभावता देवत्वप्राप्ति-
योग्यतासपक्षेऽपि ताते तथाभूतक्रियाकलापवशात् देवयोर्नेर्निरास्य प्रेतत्व-
मापाद्यते प्रेतयोनिं प्राप्यते । क्रियाफलमलात्तातः प्रेतयोनिं प्राप्यते ।
अकथितं चेति प्रधाने कर्मणि प्रत्ययः । तथाभूतक्रियादर्शनात्पूर्वमेव
मन्मरणा भयं इति भावः ॥ ६ ॥

(नेपथ्ये)

प्रताप ! धैर्यमवलम्बस्व । भगवदाराधनतत्पराणां नैवं-
विधा क्रिया भवति ।

(तत सुरामादाय गणिकया सह प्रविशति वितानप्रदेशे चेटः, सर्वे
यथास्थानमुपविशन्ति, सुरा पिबन्ति च ।)

प्रतापः—(दूरतस्तदवलोक्य मनसि) कथं देवा अपि विप्रलम्भयन्ति ।
पश्यन्तु ते ।)

सुरा पिबत्येष मदीयघान्धव

क्रियां चरिष्यत्ययमित्यपि ध्रुवम्

नचोद्यते स्वीयजनेष्वसिर्मया

सुराः कथं नैव मृषा वदन्त्यतः ॥ १० ॥

विटः—शोभनेर्यं सुरा । मधुरोन्मादिनी च ।

चेटः—सुराओ अम्हे माउलाणी अइसोहणा । उअ—

सुरातोऽस्माक मातुलानी अतिशोभना । पश्य—

दिट्टी पफुल्लसरसीरुहतुल्लरूपा

दृष्टिः प्रफुल्लसरसीरुहतुल्यरूपा ।

नेपथ्ये—कुतोऽप्यदृष्टस्थानाच्छब्दोच्चारणविषयीभूते स्थाने ।

भगवदिति । भगवदाराधनफलबलात्प्रत्यक्षविषयीभूतायामपि तथा-
भूतसामग्रयामतर्कितप्रतिबन्धप्राप्तेर्नैवविधा-प्रेतत्वाद्यशुभयोनिप्रापिका क्रिया
भवति । विप्रलम्भयन्ति—प्रतारयन्ति । ते प्रत्यक्षत एव विलोकयन्तु ।

चेट स्वानीतवेश्यायाः शरीरसौन्दर्यं वर्णयन् सुरातस्तस्यामाधिक्यं
च दर्शयति—दिट्टीति । अस्याः-वेश्यायाः दृष्टिः प्रफुल्लस्य सरसीरुहस्य
तुल्य रूपमाकार सौन्दर्यं वा यस्या तथाभूताऽस्ति । शुभ-कल्याणकरम्
'से'अस्या, आनन-मुख, सपूर्णचन्द्रसदृशं पूर्णचन्द्रवदाह्लादजनकम् ।
से-अस्या इति घण्टालोलान्यायेन उभयत्र संबन्धत इति । अस्याः
लावण्यं सर्वेषामवयवानां सस्यानसौभाग्यं कान्तिर्वा, रूप सौन्दर्यम्,
पुनस्तयोर्द्वन्द्वः । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यति' प्राणयज्ञत्वादेकवद्भावः अरविन्देन

सुधोद्भवा खञ्जनदृक् शुभस्तनी

सुधाभुजामूर्भवेव राजते ॥ १३ ॥

(तत प्रविशति कर्मकाण्डकोवित्पुरोहित ।)

मन्त्री—कुमार ! ससामग्रीकः पुरोहितः समुपस्थितः । अतो
राज्याभीषेककार्यारम्भो विधीयताम् ।

चेष्टः—(सखेव सनिर्वेद च नीचे ररेण)

कुवो सिञ्चालपुत्रो समुपदिष्टो ।

कुत श्यालपुत्रं समुपरिधत ।

जग०—यथा भवतामनुमतिः । (वेश्यादय एकतोऽपसर्पन्ति ।)

मन्त्री—पुरोहित ! राज्ये जगन्मल्लस्याभिषेकः क्रियताम् ।

अथ विटो जगन्मल्ल सतोपयस्ता वर्णयति इयमिति । रतिक्रियाया
ये मेदा विभेदाश्च, तेषु परिडता । रतिविषयककलाकौशल्यवती इय
भुजिभ्या परिचारिका, परिचारिकास्वरूपेण रक्षमाणा । भवत् अनुह-
विणी—रतिविषयककलाकौशल्यसाम्यात् भवत् एव याग्याऽस्ति । एतेन
स्वमपि रतिविषयककलाकौशल्यवानसीति सूच्यते । सुधोद्भवा—सुधाया
उद्भवो यस्या सा । पूर्ववर्णित सुधामिव क्लेवरे निषिञ्चतीत्यादिक विट
सर्वथा स्वकृतवर्णनेन समर्थयति—इय सुधोद्भवा । अत एव कटाक्षविचे
पादपि सुधा निषिञ्चति । कार्यगुणा हि कारणगुणानाश्रयन्ते इति
नियमात् । तथा खञ्जनदृक् खञ्जन इव दृशौ दृष्टी यस्या सा । अत्र
सादृश्य खञ्जन इव, श्वेतस्यामतया चाञ्चल्याच्च खञ्जनेन श्रौपम्यम् ।
शुभस्तनी मुन्दरस्तनयुक्ता । सुधाभुजा देवाना सम्पन्धिनी, ऊढमना
उर्वशी इव राजते । विष्णुना जङ्घातः उर्वशी समुत्पादिता इति पौरा
णिकी कथाऽत्रानुसंधेया ॥ १३ ॥

पुनरुक्तं सन्पुरोहित उदयसिंहस्य कातरता दर्शयति ।

सांगामटेति एव वीर प्रताप सांगामस्य समनन्तरमेव यदि जात
अभविष्यत्, तदा सकला-समस्ताऽपि, नू समस्तमपि भारत वर्षमित्यर्थं,
स्वातन्त्र्यम् आप्नुवत्, अत्र क्रियाया अनिष्पत्तिर्गम्यते एव । यस्मात्सागा-

पुरो०—यदाज्ञापयन्ति भवन्तस्तत्प्रमाणम्, परं तु—
(इति मौनमास्थितः ।)

मन्त्री—विस्त्रब्धं ब्रूहि, यदपरं वक्तव्यम् ।

पुरो०—इदमपरं वक्तव्यम्, यद् राज्ये ज्येष्ठपुत्रस्यैवाधिकारः,
न कामप्ययोग्यतां ज्येष्ठपुत्रे प्रतापे विलोकयामः, नापि
केनापि कारणेन प्रतापमनधिकारिणं तर्कयामः ।

मन्त्री—यदा महाराजेन उदयसिंहेन जगन्मल्लाय राज्यमदायि,
तदा कथमिदं नोक्तम् ? ।

पुरो०—महाराजं मरणासन्नमवलोक्य तदात्मनो व्यर्थमेव
क्लेशसंपादनाय नोक्तम् । निर्धारितं चैतत्, यत्स्वतः
एवानन्तरं युक्तमेव भविष्यति ।

किञ्च—सांगाभटानन्तरेतः प्रतापो,
जातोऽभविष्यद् यदि चैष वीरः ।

स्वातन्त्र्यमाप्स्यत्सकला तदा भू-
मध्ये न चाभूदुदयस्त्वधीरः ॥१४॥

नेपथ्ये—

साधु पुरोहित ! बृहस्पतिमते ! साधु । एवमेवैतत् ।

(तत्समनन्तरमेव प्रतापमादाय प्रविशति भलारावनरेशसालुम्ब-
समन्वितो रावतकृष्णः ।)

भटस्य समनन्तरं प्रतापो न जातः, अस्मादेव समस्ता भूः स्वातन्त्र्यं
नाप्स्यत् । पुनस्तदेव समर्थयन्त्यष्टयति—अधीरः, उदयः-उदयसिंहः, मध्ये-
सांगाप्रतापयोर्मध्ये, न च-नैव अभूत् । तयोर्मध्ये उदयसिंहसद्भावादेव
भारतं स्वतन्त्रं नाभूत्, एतेन उदयसिंहकार्यं पराधीनताप्रापकमिति जग-
न्मल्लस्याभिप्रेकमश्चिपति । प्रतापस्य च राज्याभिप्रेके कृते उदयसिंहस्य
मध्ये सद्भावात् समस्तं भारतं स्वतन्त्रं न भवेत्, परमेवमपि मेवाहं स्वतन्त्र-
मेव भविष्यतीति प्रतापाभिप्रेक एव कर्तव्य इति तदाशयः ॥ १४ ॥

पुरोहित इति—पुरः अग्रे प्रत्यन्ततः पुरतो वा हितं यस्मान्निनि अर्थ-
र्थमेव ते नामास्ति । बृहस्पतेर्मतिरिव मतिर्यस्य, यथा बृहस्पतिः, २,

रावतकृष्णः—मन्त्रिन् । राज्ये कस्याधिकारः ? प्रतापस्य
जगन्मल्लस्य वा ? को वाऽनयोर्योग्यः ?

मन्त्री—उदयसिंहमहाराजेन जगन्मल्लाय राज्यं दत्तम् ।

रा० कृष्णः—(सक्रोधम्) कस्मै दत्तमिति न पृच्छयते । किं तु
कस्याधिकारः ? को वा योग्यः ?

मन्त्री—प्रतापस्यैवाधिकारः, स एव योग्यश्च ।

योषि निर्भयतया स्वमुखनिरपेक्षतया याथाप्येन युक्तायुक्तविचारपूर्वकं
करोति, एवं त्वमपि निर्भीको यथार्थवक्त्रेति भावः । एवमेधैतदिति नेपथ्य-
स्यैरनिरपेक्षैर्ब्राह्मणादिभिर्देवैर्वा समर्थ्यते । एवमेवेत्यादिना । सर्वथा
त्वदुक्तमुचितमिति भावः । मन्त्रिन्निति । मन्त्रिन् ! रहस्यविचारेषु
यस्य बुद्धिः प्रसरति, । सर्वयोचितविचारकारिन् ! । कस्याधिकार
इति साऽधिकेपमादिशति । प्रतापस्य जगन्मल्लस्य वा ? ज्येष्ठपु-
त्रस्यैव धर्मशास्त्रेष्वधिकारसमर्थनात्स एव योग्यो भवति । अथ ज्येष्ठ-
पुत्रोऽपि क्वचित्पित्राशाविद्वद्वाचरणान्नीचगुणयुक्तत्वात्पतितत्वादिदोषा-
च्चायोग्यो भवतीत्याह—को वाऽनयोर्योग्यः । पितृभक्त्याद्युत्तमगुण-
युक्तः प्रजावत्सलो धार्मिकश्च प्रताप एव योग्य इति तत्तात्पर्यम् । मन्त्री
तत्प्रश्नोत्तरमदत्त्वा हृलेन जगन्मल्लं समर्थयन्—‘महाराजेन जगन्मल्लाय
राज्यं दत्तम्’ इत्युत्तरयति । पितुरधिकारात्स यस्मै दद्यात्तस्यैव राज्यम् ।
को वा योग्यः को वाऽयोग्य इति तु उदयसिंहो जानीताम्, मया तु
यस्मै दत्तं तस्यैवाधिकारो मन्यते । सक्रोधम् एतेन यदि त्वयोचित्ये
विचारो न क्रियते तदा अहं शस्त्रसाहस्येन हठाद् योग्यमेव स्थापयि-
ष्यामि । कस्मै इति । इदं तु मया पृष्ठमेव न, कथमन्यत्पृष्ठमन्यदुत्तरयति
इति छलं मा कुरु । अथ त्वया मम प्रश्नो नावगत इति चेत्तर्हि पुनः
कथयामि-कस्याधिकारः को वा योग्यः, अधिकारिणं योग्यं च कथय ।
अधिकारिणो योग्यस्य च प्रतापस्य स्वीकारात्तत्समर्थनं स्वत एव
फल्लिष्यतीति तदाशयः । अथ मन्त्री प्रतापस्याधिकारं योग्यता च
स्वयं स्वीकरोति—स एव योग्यश्चेति । चतुर्विंशतिष्वपि भ्रातृषु प्रताप
एव योग्यः, नेतरे । अत्रैवकारेण इतरेषा व्यावृत्तिरपि विधीयते ।

रा० कृष्णः—तर्हि (अङ्गुल्या निर्दिशन्) अयमेवाभिपिच्यताम् ।

मन्त्री—परं तु अयं न स्वीकरोतीति श्रुतम् ।

रा०—कृष्णः—कथं न स्वीकरिष्यति ।

मन्त्री—यदि अयं स्वीकुर्यात्तर्हि 'स्वर्णे सुगन्धः' इत्यहं मन्ये ।
एवं सति आर्यगौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति ।

(ततः प्रतापाभिमुखं सर्वे उपतिष्ठन्ते ।)

पुनः रावतकृष्णस्तस्वीकृतिं कार्यान्विता विघातुमाह— तर्हि अयमेवाभिपिच्यतामित्यादिना । एवं च तदभिपेके भवतोऽनुमतिरस्तीति ज्ञायते ।

मन्त्री स्वविरोधं परिहरन् तस्यानभिपेके स्वदोषं च वारयन् कथयति— परंतु इति । यद्यपि अहं तमेवाभिपेक्तुमिच्छामि । परंतु स प्रतापः स्वीकरोत्येव न । एवं च तदस्वीकारादेव अगत्या जगन्मल्लमहमभिपिञ्चामि । अधिकारिणः प्रतापस्य त्यागादनधिकारिणु मध्ये पित्रा जगन्मल्लाय दत्तमिति कृत्वा जगन्मल्लस्यान्यापेक्षया अधिकारात् । किञ्च यथा प्रतापो न स्वीकरोत्येवमन्येऽपि न स्वीकरिष्यन्तीति जगन्मल्लमभिपिञ्चामीति तदाशयः । पुना रावतकृष्ण आह—स कथं न स्वीकरिष्यतीति । स त्ववश्यमेव स्वीकरिष्यतीति भावः । त्वया तथामृतो यत्न एव न विहितो येन स स्वीकुर्यात्, किं तु अहमिदानीमेव तं स्वीकारयिष्यामि । अथ मन्त्री तदभिपेके सर्वथा स्वविरोधं परिहरन् परमप्रसन्नतां प्रकटयति—यदि स स्वीकुर्यादित्यादिना । 'जातुयदोर्लिङ्' इह 'यदायद्योरुपसंख्यानम्' इति भविष्यदर्शे लिङ् लृटोऽपवादः । 'स्वर्णे सुगन्धः' इति असंभावितामेव तत्कृतां स्वीकृतिमहं मन्ये । यथा प्रयत्नशतैरपि स्वर्णे सुगन्धो नोत्पादयितुं शक्यः, एवं तत्कृता स्वीकृतिरपि असंभावितैव । एतेन प्रतापस्य राज्याभिपेके भया महान्प्रयत्नो विहित इति दर्शितं भवति । अथ वा-स्वर्णे स्वत एव बहुमूर्त्यं सुशोभनं च वस्तु, तत्र यदि सुगन्धः स्यात्तदा तु अतर्कित एव महान् लाभः स्यात् । एवमेव प्रतापस्य राज्याभिपेके महान् लाभ इत्यर्गद्वयेन विरोधपरिहारः प्रसन्नता च प्रकटितौ भविष्यतः । एवं च तत्कृते राज्याभिपेकस्वीकारे फलं दर्शयति—आर्यगौरवरक्षेत्यादिना ।

रा० कृष्णः—प्रताप ! केयं भवतोऽनुदारता

विधर्मिणो रक्षसि यन्न च प्रजाः ।

स्वातन्त्र्यरक्षासु दृढव्रता वयं

क्व याम कं वीरमुपाश्रयेम वा ॥ १५ ॥

सालुम्बः—रणाङ्गणेऽनारतमुत्सवप्रियं

सौगाह्वयं तं स्वपितामहं स्मरेः ।

आर्याणां गौरवरक्षा, न खलु मेवाडप्रदेशमात्रस्य गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति किन्तु सर्वेषामस्मदादीनामपि गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति । एतेनास्माकमेव प्रतिष्ठात्मा इति स्वकीयमेव कार्यं तत्स्वीकृतौ धनयति । इदमार्याणांभस्माकमेव कार्यमिति वृत्त्वा सर्वे प्रतापाभिमुखं क्रियाविशेषणमेतत् उपतिष्ठन्ते । 'उपतिष्ठन्ते' इत्यत्र 'अकर्मकाञ्च' इत्यात्मनेपदम् । प्रथमं रावतकृष्णस्तत्प्रशंसानुपूर्वकं तं सञ्जीकरोति—

प्रतापेति । हे प्रताप ! भवतः इयं का अनुदारता, न ह्येतादृश्यनुदारता भवाद्दशेषूचिता भवति । का इत्यनेन सखेदं विमर्षति । अथ त्वं वदेः नाहमनुदारता करोमि किन्तुदारभावात् राज्यमपि त्यक्त्वा विपिनं ब्रजामीति तदनुदारता परिहरन्त्वाभिमतानुदारता दर्शयति (विधर्मिण्य इत्यादि) सुगमम् । रक्षासु दृढव्रता वयं क्व याम । वीराश्रयिणामस्माकमन्यद् गतिस्थानं नास्तीति कुत्र वयं तिष्ठेम । त्वया कातर्ये कृते अकालमरणमेवास्माकं भविष्यतीति व्यज्यते । अथैवं वदेरन्यं वीरमनुयात, तत् आह । क्व वीरं वयमुपाश्रयेम । यदि त्वदतिरिक्तोऽन्यो वीरोऽस्ति तर्हि त्वमेव तन्नामोच्चारय । एतेन त्वदतिरिक्तस्य अस्मदधिकस्य तथाभूतवीरस्य अभाव एवेति बोध्यते । तस्मादस्माकमकालमरणं मा भूदित्यस्मानु दया विधाय स्वाभिप्रेकं स्वोक्तुं श्वेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथ सालुम्बः प्रतापं प्रोत्साहयन्नाह—रणाङ्गणे इति । अनारतसततमेव, रणाङ्गणे—रण एव अङ्गणं तत्र, उत्सवप्रियम्—प्रिय उत्सवो यस्य तम् । 'वा प्रियस्य' इति वैकल्पिकः प्रियेत्यस्य पूर्वनिपातः । सौगाह्वयं—'सौगा' इतिनामकं तं प्रसिद्धं स्वस्य आत्मनः पितामहं स्मरे । यः सदैव रणाङ्गणमेवोत्सवस्थानमन्यत तं लोकवित्यातं सौगा स्मरेरिति भावः ।

म्लेच्छाधिपादार्यगुरुत्वरक्षणे

यदीययत्नः सफलत्वमाययौ ॥ १६ ॥

प्रता०—(पुनरुत्तरार्द्धं पठति 'संघर्षात्स्वजनेष्वित्यादि')

भालारावनरेशः—कोऽयमस्थाने उद्वेगः । कथं नाम स्वजनेषु संघर्षः, त्वमेवास्य देशस्याधिपत्ये योग्योऽसीत्यस्माभिः सर्वैर्मन्यते ।

जातोऽहंपूर्विकायां मम सुभटगणो धैर्यशौर्यादियुक्तो

म्लेच्छानामुत्तमाङ्गान्यधिसमरमटन्वण्डशो यो व्यधत्त ।

एतेन पूर्वजानामनुसरणं श्रेयस्करं धर्मसाधकं चेति बोध्यते । यदीययत्नः-यत्सम्बन्धी प्रयत्नः, म्लेच्छाधिपात्-म्लेच्छराजात्, बाबरनामकात्, आर्यगुरुत्वस्य रक्षणे-आर्यगौरवरक्षणे, सफलत्वम्, आययौ-तदीयो यत्नः सफलो बभूव । आर्यगौरव रक्षितमभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ प्रतापस्तथाकरणे गृहकलहाग्नि संभावयन् पुनरुत्तरार्द्धम्, 'संघर्षात्स्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना । वादं वा मरणं भवेन्मम न तु स्यान्म्लेच्छदृष्टा घरा' इति पठति । अथ ग्वालियरनरेश-स्तदुक्तिं निरस्यन्नाह कोऽयमित्यादि ।

अथ संघर्षसंभावना निरस्य पुनस्तं प्रोत्साहयति—जातोऽहमिति । धैर्यशौर्यसाहससहिष्णुतादिगुणयुक्तः, अहंपूर्विकाया जातः "अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्" इत्यमरः, अहं पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि, अहं पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि इत्येवंरूपेण जातः समुत्पन्नो यो लोकोत्तरशौर्यशालितया प्रसिद्धः, मम सुभटानां गणः-सैनिकानां समुदायः, अधिसमरम् अटन् म्लेच्छानां यवनानाम्, उत्तमाङ्गानि तेषां मस्तकानीत्यर्थः, खण्डशः व्यधत्त । सर्वः समस्तः सः पूर्वोक्तः सुभटगणः, सूरं-सूर्यं मित्वा, प्रलयम्-अपुनरावर्तिनाशम्, उपगतः-प्राप्तः, युक्तोऽभूदित्यर्थः । उक्तं हि "द्राविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनी । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिहतश्च यः" । निघ्नत्वम्-अधीनता, नैव प्राप्तः । म्लेच्छानामेव अधीनो नामूदित्येव न, किन्तु कस्यापि अधीनो नामूदिति भावः । तत्

सूरं भित्त्वा स सर्वः प्रलयमुपगतो नैव निघ्नत्वमाप्नो-

युष्माभिर्गौरवं तद् यवनरणभिया हेलया नाशयते किम् ॥१७॥

प्रतापः—नाहं रणाद् विभेमि । यदि मत्कृते आर्याणां गौरव-
रक्षेति भवतां निश्चयस्तदाऽह सर्वस्वत्यागेनापि
आर्यगौरवं रक्षिष्यामीति प्रतिजाने ।

सव—साधु साधु स्ववंशानुचरितमेव प्रतिज्ञातम् ।

मन्त्री—अथेदमप्यस्माकं वक्तव्यम्, यन्मेवाडदेशाधिपतित्वे-
नहि नहि आर्याधिपतित्वे-भवतामेवाधिकार इति अत्र-
भवन्तं भवन्तमेवाभिर्षिपक्षामः ।

गौरव—स्वातन्त्र्यरूप गौरव, युष्माभि, शौर्यधैर्यप्रसिद्धैः । पूज्यत्वात्
बहुवचनम्, यवनरणभिया—यवनानां सग्रामभयेन, हेलया अनादरेण,
किं नाशयते । एतेन न ते त्वा जेतुं समर्था इति सूच्यते । तस्मात् भयं
त्यक्त्वा सज्जीभूय स्वातन्त्र्यगौरवं रक्षेति भावः ॥ १७ ॥

प्रतापः स्वाभिमतं प्रकटयति—नाहमित्यादिना । यदि 'मत्कृते' मया
कृते-मत्कृते, 'सुप्सुपा' तृतीयेनि योगविभागाद्वा समासः । मया कार्यं
कृते इति युष्माकं निश्चयस्तर्हि अहं सर्वस्वत्यागेन—राज्यादिसमस्तवस्तुत्या-
गेन, आर्यगौरवं रक्षिष्यामि, न खलु आत्मगतमेव गौरवं प्रतिपाल-
यिष्यामि किन्तु परगतमपि गौरवं रक्षिष्यामीति प्रतिज्ञास्वरूपमुक्तम् ।

स्ववंशेति । स्ववंशस्य अनुचरितमेव, यथा त्वत्पूर्वजेन सांगा-
नृपेण प्राणपणेन आर्यगौरवरक्षा कृता तथैव त्वयाऽपि प्रतिज्ञातम् । एतेन
त्व सांगानृपादप्यधिकतरं गौरवं प्राप्स्यसीति बोधितं भवति । अस्माक-
मिति । न खलु ममैव किन्तु सर्वेषामस्माकम् । किं वक्तव्यमित्याह मेवाडे-
त्यादि । अथ त्वरथा भ्रमाद्वा उच्यमाना मेवाडदेशमात्रतां सप्तभ्रमं निर-
स्यति—नहि नहीति मेवाडदेशमात्राधिपतित्वे भवतामधिकार इत्येव न,
किन्तु समस्तभारतवर्षे विद्यमानानामार्याणामधिपतित्वे भवतामधिकारः,
ततश्च त्वमेव आर्याधिपतिरिति सूचितं भवति । एतेन लोके 'हिन्दूपति-'
रिति प्रसिध्यमानं नाम बोधितं भवति । भवन्तमेव न त्वन्यम् । अभि-

प्रतापः—यथा भवद्भयो रोचते । न मे विप्रतिपत्तिः ।

(ततो रावतकृष्णग्वालियरनरेशप्रभृतयः प्रतापं सिंहासने
उपवेशयन्ति, पुरोहितश्चाभिपिञ्चति ।)

पुरो०—

आर्यस्थितीनां परिरक्षणार्थमसिञ्चते त्वामभिपेचयामः ।

विजित्य शत्रूनखिलां स्वगोत्रां गोत्रानुगां त्वं प्रतिपालयस्व ॥१८॥
इत्याशिपं ददाति ।

(ततो देशकुलानारानुरूपं सर्वे उपायनान्युपहरन्ति ।)

(अथ वैतालिकौ प्रविशतः ।)

पिपिञ्चामः—वयं सर्वे अभिपेक्षुमिच्छामः । सोपसर्गत्वात् 'स्थादिष्वभ्या-
सेन चाभ्यासत्य' इति पत्वम् । अथ प्रतापः संघर्षभिया स्वाभिपेके ताटस्थ्यं
प्रकटयति—यथा भवद्भयो रोचते । यदि भवन्तः सर्वेऽप्यैकमत्येन
मामभिपेक्षुमिच्छन्ति तर्हि अभिपिञ्चन्तु । मम विप्रतिपत्तिः—स्वाभिपेके
विरोधो नास्ति । एतेन मामेवाभिपिञ्चन्तु इति ममाभिनिवेशोऽपि
नास्तीति स्फुटं व्यनक्ति । अभिपिञ्चतीति—सजलेन कुशत्रयेण वैदिक-
मन्त्रेणाभिपिञ्चति ।

पुरोहितः पुष्पैराशिपं ददत् पठति—

आर्यस्थितीनामिति । आर्याणां स्थितयः ब्राह्मणादिजात्यवस्था-
नानि, अथ वा स्थितयः मर्यादा व्यवहारा इति तासां परिरक्षणार्थं-
परितः सर्वतोभावेन रक्षणार्थम्, एतेन स्वगतपरगतानां व्यवहारविरुद्धानां-
माचाराणां रक्षणं सूचितं भवति, असिञ्चते—सङ्गग्रते, त्वामभिपेचयामः ।
आर्यव्यवहारलोपिनं सङ्गप्रायश्चित्तेन शोधय, अत्राशौ त्वामधिपतित्वेन
स्थापयामः । एतेन मानसिंहेन सह विरोधकरणं बीजरूपेण स्थापितं
भवति । त्वं शत्रून् विजित्य, अखिला—समस्ता, गोत्रानुगा—वंशपरंपरानु-
याता, स्वगोत्रा स्वपृथ्वी, प्रतिपालयस्व । सति कष्टेऽपि ता मा त्याज्जीरिति
भावः । एतेन भाविसकलयुद्धविषयः, कष्टसहनेऽपि स्वदेशरक्षा, पुनर्युद्धेन
स्वमूमिप्राप्तिरित्यादि बीजरूपेणोपलब्धव्यते ॥ १८ ॥

प्रथमः-राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुल-
 स्लेच्छानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिश ।
 निःशङ्कप्रसरन्मनोज्ञविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-
 त्वत्कीर्तिप्रयतावदातमखिलं भूमण्डलं भासताम् ॥१६॥

आशिषमिति । अप्राप्तप्रार्थनमाशीः, तद्रूपाणि पूर्वोक्तभावार्थ-
 सूत्रकानि पुष्याणि ददाति । कुलाचारानुरूपमिति । भिल्लजातीयाः
 स्ववधिराक्तं शरमुपहरन्ति, एतेन स्ववधिरदानेन त्वामनुचरिष्याम इति
 बोधयन्ति । क्षत्रियाः खड्गमुपहरन्ति, खड्गसाहाय्येन त्वामनुचरिष्याम
 इति सूचयन्ति । विशः रूप्याणि, ततो धनेनानुचरिष्यामः, अन्ये च
 साष्टाङ्गप्रणामादिना स्वशरीरेण प्राणपणेन त्वामनुचरिष्याम इति
 सूचयन्ति ।

तत्र प्रथमो वैतालिकः पठति । राजन्निति । हे राजन् !
 तव सुभटानामुत्तमवीराणां ये अस्यः खड्गास्तैः कृत्ताः-छिन्ना
 ये यवनास्तेषामसृङ्मांसमज्जाभिराकुलं व्याप्तं यन् ग्लेच्छानीकं
 गरुडसर्पाकारेण स्थितम् अकयरसैन्यं तस्य पलायने-पराङ्मुखीभूय
 घावने, यः आर्तनिनदः-दीनशब्दः, तेन व्याप्ताः, समाः-सर्वा दिशः
 स्युः । यथा मयेन विह्वलाः पलायमानाः लोका दिग्भ्रमेण सर्वतो गच्छन्ति
 तथैव यवनसैनिका भयत्रस्ता गच्छन्तु । तथा निःशङ्कम्-अप्रतिहतबाधं
 यथा स्यात्तथा, प्रसरन्-विस्तारमाप्नुवन्, यो मनोज्ञविभवः-शोभमानैश्वर्यम्
 तस्य भ्राजिष्णुलक्ष्म्या-देदीप्यमानशोभया, लसन्ती मध्ये-विद्युदिव द्योत-
 माना, या त्वत्कीर्तिस्तया प्रयतं-पवित्रम्, अवदातं-घवलम्, अखिलं-
 समस्तं, भूमण्डलम् भासताम् । शुभकर्मभिः शोभतामिति भावः । शुभ्रा
 त्वत्कीर्तिः समस्तभूमण्डले प्रसरतिवति तात्पर्यार्थः । अत्र पूर्वार्धेन भाव्य-
 मानयुद्धविजयो वीररूपेणोपक्षिप्यते । अपराद्धेन विजयसमुद्भूतप्रताप-
 यशोऽवस्थानं बोध्यते । यद्यत्र पद्ये—

राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुला-

नार्यानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिशः ।

पुनः—त्रिद्वेषिभूमिपतिमानविलोपधीरो
 म्लेच्छाधिनाथवलनाशनसिद्धवीरः
 आर्यप्रभुः समरविजसभाधुरीणो
 मेवाडराड् जयतु युद्धकलाप्रवीणः ॥ २० ॥
 द्वितीय — स्वहिन्दुधर्मरक्षणे क्षणे क्षणे कृतेक्षण.
 क्षमाधिनायकोऽपि यः क्षमास्वरूपतां दधे ।

नि शङ्खप्रसरत्सुवल्गुविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-

स्वस्कीर्तिप्रयतावदातमखिल भूमण्डल भासताम् ॥ इति पठेत्,
 तदा सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्य भावगाम्भीर्यमजहदेव शब्दचित्रतामपि
 व्यञ्जयति । एतां सन्ध्यक्षरमिति सज्ञा । किन्तु किञ्चिद्दार्ढ्यशैथिल्यान्न
 तयोक्तम् ॥ १६ ॥ अथवा

प्रत्यर्षिदमात्रलारिप्रसृमरनिविडध्वान्ततिग्माशुराशि
 दुर्धर्षारिक्लितीशक्षितिघरदमनप्राप्तजम्भारिरूप ।
 सन्नीतित्रातवल्लीविपिनधनघटावारिवाहानुकारी
 जीयादार्यस्थितीना यवनपतिनयाद् रक्षकोऽय प्रताप ।
 सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्यम् ॥ २० ॥

त्रिद्वेषिणो ये भूमिपतयो राजानस्तेषा मानविलोपे धीर प्राञ्च तथा
 म्लेच्छाधिनाथस्य—अकबरस्य बलनाशने सामर्थ्यनाशने सैन्यनाशने वा
 सिद्धवीर, सिद्धाशौ वीर सिद्धवीर, अप्रतिहतवीर इत्यर्थः । आर्यप्रभुः
 आर्याणां प्रभु, अनेनैव आर्यसत्ताऽस्तीति भावः । समरविजाना या
 समा तत्र धुरीण, समानायक । एतेन हल्दीघाटिकयुद्धे आक्रमणपरामर्शो
 अस्य नायकत्व बीजरूपेण उपक्षिप्यते । युद्धकलाया प्रवीणो मेवाडराड्-
 मेवाडदेशाधिपति, जयतु—सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् ॥ २१ ॥

द्वितीय पुनराह—स्वहिन्दु इति । हिनस्ति पापानीति हिन्दु । द्विषि
 धातोरोष्णादिके दुप्रत्यये सकारलोपे च कृते हिन्दुरिति । धर्माधर्मव्यव-
 स्थाया सनातनधर्मिण्यामेव कार्याणां पापनाशकत्वं नेतरेषामित्याद्यस्मत्—
 तशङ्करविजयनाटके वर्णितम् । स्वस्य—आत्मन, स्वेषाम्—आत्मीयानां वा,

कलाकलापकोविदो रणाग्रणीर्दयानिधि,

प्रतापसिंहभूपति स एष सर्वदा जयेत् ॥ २१ ॥

स्वसौरयनिःस्पृहः सदा विपन्नदुःखनाशने

विरोधिमानमर्दको महाहवे समुद्यतः ।

स्विका स्थितिं दृढा युधा चकार यश्च भारते

प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २२ ॥

अखण्डभूमिमण्डले प्रभूतकीर्तिराशिमान्

धराधरेन्द्रमन्दिरे तवैव गीयते स्तवः ।

हिन्दुधर्मस्य, रक्षणे-वर्णव्यवस्थादिपालने, क्षणे क्षणे-प्रतिक्षणमित्यर्थः, कृतेक्षण-कृतम् ईक्षणं येन स कृतेक्षण, दत्तदृष्टिः । क्षमाया अधिनायक पृथिवीपतिरपि य क्षमास्वरूपता शान्तिस्वरूपतां दधे । कलाकलापस्य चतुःपष्टिसंशकानां मतातरेण द्वासप्ततिसख्याकानां वा कलानां य कलाप समूहस्तस्य कोविद-विद्वान् । नृत्याद्यनुपयुक्तकलानां कोविद एव, न तु तत्कर्तेति कोविदपदस्वारस्येन बोधते । रणे सम्राणे, अग्रणी । तथापि दयानिधि-दयासमुद्र, स एष प्रतापसिंहभूपति सर्वदा जयेत्-सर्वोत्कृष्टतया यतंताम् । इहापि प्रार्थनमेवेति ॥२१॥

पुनराह-स्वसौख्येति । विपन्नस्य दीनस्य यद् दुःखं तस्य विपन्नदुःखस्य नाशने-विपन्नस्य विपन्नदुःखनिवारणे, सदा-सर्वदा, स्वसौरये निःस्पृह स्वमुखनिरपेक्ष । तथा विरोधिना-प्रतिकूलाचारिणा मानमर्दक, अथवा विरोधिनो मानस्य-मानसिंहस्य मर्दक, महाहवे-युद्धे, समुद्यत समुद्युक्त य भारते भारतवर्षे स्विकाम् आत्मीया, स्थितिं मर्यादा वा, युधा सम्राणेण, दृढा चकार, स एष प्रतापसिंहभूपति सर्वदा जयेत् । 'स्विका'मित्यत्र 'मूर्खैषा' इति न विकल्प, आत स्थानिकस्यैवाकारस्य तद्विषयत्वात् । ततश्च स्विका परमस्विकेत्यादौ नित्यमेव, सञ्जोपसर्जनाभूत स्वशब्दोऽस्य विषय इति ॥२२॥

पुनराह-अखण्डेति । अखण्डभूमिमण्डले-समस्तपृथ्वीमण्डले, प्रभूतकीर्तिराशिमान्-अतिशयितकीर्ति, धराधरः-शेष इन्द्र देवेन्द्र, तयोर्मन्दिरे इत्यत्र जातित्वादेकवचनम्, पाताले स्वर्गे चेत्यर्थः ।

सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुलं यदीयसन्तुतौ

प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥

(ततः किञ्चिद् गातुं नर्तितुं च आयियासति वाराङ्गना ।)

प्रतापः—केयम् ।

प्रधानमन्त्री—महाराज ! इयं नर्तितुमागता वाराङ्गना ।

प्रतापः—आः ! किमनया ?

लुण्ठन्ती विषये स्वके युवजनान् व्यामोह्य रूपं धनं
वंशस्योपरि नर्तनं विदधती हीनेति निस्सार्यताम् ।

यद्वा घराघरेन्द्रस्य मन्दिरे-हिमालयाधिपतिरुद्दे, अथवा-घराघरेन्द्रे यन्मन्दिरं
कैलाशस्तत्र तत्रैव स्तव-स्तुतिः, गीयते । यदीयसन्तुतौ-यस्य वास्त-
विकस्तुनिविषये, सुरेन्द्रकेन्द्रम्-इन्द्रस्य प्रधानस्थानम्, उत्सवाकुलम्-
विविधोत्सवव्याप्तम्, कश्चिच्च यस्य शौर्यं, कश्चिन्व्याय, कश्चिद् गम्भीरता,
कश्चित्पाण्डित्यं, कश्चित्सख्यतामालोक्योत्सवमातनोति । एवं यस्य सन्तुतौ
सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुलं स एषः प्रतापसिंहभूपतिः सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥

तत इति । सा पूर्वमायाता वाराङ्गना किञ्चिद् गानाय नर्तनाय च
आयियासति-आयातुमिच्छति । प्रतापस्ता वारयितुमिच्छन्निव कथयति-
केयमिति । इयं वाराङ्गनेति सत्यपि ज्ञाने इह सता शूराणां सघटे अस्या
आगमनं न संभवतीति नानया वाराङ्गनया भवितव्यमित्यभिसंधाय इह
स्त्रिया अपि प्रवेशो न युज्यत इति तामपि वारयन् कथयति-केयमिति ।

अथ मन्त्री तदभिप्रायमवगच्छन् कथयति-राज्याभिषेके महति महो-
त्सवे प्रधानुरोधेन नर्तितुमागता इयं वाराङ्गना । पुनः प्रतापः कथयति-आः
किमनयेति । आः इति अत्यन्तदुःखप्रकाशने खेदे च । म्लेच्छैराक्रान्ते
पराधीने च सति भारते कथं महोत्सवस्यावसरः, उत्सवस्याप्यवसरो
नास्तीति तस्या आगमनं सर्वथा निष्प्रयोजनमित्याह-अनया किम् ।
अनया किञ्चिदपि प्रयोजनं नास्ति । अथ तस्याः कृत्येषु दोषं प्रदर्शयन्
तत्सिद्धिमप्यसहमानः कथयति ।

लुण्ठन्तीति । इदमः प्रकान्तत्वात् इयं स्वके विषये स्वकीये देशे,

स्थानेऽस्याश्च परस्य देशविभवावाहृत्य तत्स्वामिन,
स्वीय भृत्यमसौ विधाय भवतः खड्गो रणे नृत्यतु ॥२४॥

‘नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्तनम्’ इत्यमर । अथ च स्वके स्वकीये, विषये आलिङ्गनादिके, युवजनान् समामसमर्थान्, अथ च विषयक्षमान् व्यामोह्य सदसद्विवेकासमर्थान् विधाय रूप धन-प्रत्यासत्त्या तेषां युवजना नामेव रूप धन च लुण्ठन्ती, सासर्गिकरोगादिना रूप, हावभावादिभिर्धनं च अपहरन्ती । वशस्य-महादण्डाकारेण स्थितस्य वशस्य उपरि, नर्तनं विदधती, अथ च वशस्य-स्वकुलस्य उपरि नर्तनं विदधती स्वकुलमप्य वगणयन्ती । हीना नीचजातीया इति हेतौर्निस्सार्यताम्, इतः स्थानादिति शेष । अत्र प्रथमपदेन स्वकीययोर्दधृप्रतिबन्धकत्वं द्वितीयपदेन अकार्यकारित्वमिति कृत्वा निःसारणमस्या विधीयताम् । तर्हि को नृत्यतु इत्याह-अस्यां स्थाने, परस्य अन्यस्य, शत्रोर्वा देशविभवौ आहृत्य तत्स्वामिन स्वीय स्वकीय भृत्य विधाय असौ प्रत्यक्षविषयीभूतो, भवत खड्गो रणे नृत्यतु । सा च स्वदेशे एव, तत्रापि व्यामोह्य, अथापि रूप धनं च लुण्ठन्ती, तेषामज्ञानदशायां चोरयन्ती, भवतः खड्गस्तु शत्रोर्नतु स्वकीयस्य, देश समस्तविभव च, राज्यमेवेत्यर्थः । आहृत्य हठादपहृत्य न तु व्यामोह्य, नापि आहरन् । अत्र त्वाप्रत्ययेन आहरणानन्तरमपि योर्दधृप्रतीक्षार्थं तत्रावस्थानं बोध्यते । तद्देशस्वामिन-स्वकीयभृत्य-विधानात् तद्देशस्वामिन अनुगामित्वं, खड्गस्य च स्वभृत्यतया तत्सोपकत्वमवगम्यते । तेन न्यायकारित्वं खड्गस्य व्यज्यते । इयं वशस्योपरि नृत्यतीति महानीचत्वं बोध्यते, भवतः खड्गो रणे शत्रूणामुपरि नृत्यतु । खड्गस्य पुस्त्यात्पुरुषकृतनर्तनमतिचपलं सर्वतोभावेन प्रवर्तमानं चेति शत्रूणां नाशोऽधिकतया बोध्यते । अत्र च वाराङ्गनाथा कार्याणामधमत्वात्स्य चोत्तमत्वात्तत्स्थाने खड्गस्य नर्तनमुचितम् । तेन च भाविसग्राम सूचनम् ॥ २४ ॥

अथ पुनः प्रताप शौर्याभिनिवेशेन स्वखड्गं दर्शयन् कथयति—
लुञ्चन्तीमिति । स्वप्रदेशे-स्वकीये प्रकृष्टे देशे पत्तने इत्यर्थः, अथ च

पश्य—

लुञ्चन्तीं स्वप्रदेशे परविभवगतान् वंशमध्ये ब्रजन्तीं
 शून्ये हस्तौ क्षिपन्तीं क्षितिशिरसि रयादुत्पतन्तीं पतन्तीम् ।
 निस्सार्यैनां ममैषा परविषयगतां संपदामानयन्ती
 मूर्ध्नोऽरीणां हरन्ती चरतु रिपुकुलस्योत्तमाङ्गेऽसिधाराः ॥

(इति स्वकीयं खड्गं निष्काश्य दर्शयति)

(ततः सा वेश्या तत्स्थानात् किञ्चिदपसरति ।)

स्वकीये प्रकृष्टे देशे स्थानविशेषे इत्यर्थः, परविभवगतान्, अनायास-
 लब्धसंपत्तीन् लुञ्चन्तीम् । अनायासलब्धसंपत्तयो वेश्यागामिनो भवन्तीति
 तेभ्यः सर्वतो भावेन धनं निष्काशयन्तीम् । वंशमध्ये-वेणुदण्डे, ब्रजन्तीम्
 गच्छन्तीम् । अथ च-वंशमध्ये-स्वकुले, ब्रजन्तीम्-अटन्तीं कुलटामित्यर्थः
 शून्ये-द्रव्यादिरहिते, असमर्थे वा पुरुषे हस्तौ क्षिपन्तीम्, द्रव्यादिरहित-
 मसमर्थे वा गलहस्तेन निष्काशयन्तीम्, तथा क्षितिशिरसि-पृथिव्या उपरि,
 रयात्-वेगेन, उत्पतन्तीम्-नृत्यविशेषे तथा विधानात्, तथा पतन्तीम्-
 भावबोधनार्थं निपतन्तीम् । अथवा-क्षितेः मृत्योः, शिरसि रयात् उत्पतन्तीं
 पतन्तीं च निर्मोकामित्यर्थः । अथवा-क्षितौ नाशे, शिरो, यस्य तस्मिन्
 क्षयोन्मुखे उत्पतन्तीम्-उपरि आगच्छन्तीं पतन्तीं च, सर्वद्रव्याकर्षणार्थ-
 मित्यर्थः । एवं दोषविशिष्टामेना निस्सार्य परविषयगतां-शत्रुदेशस्थितां,
 संपदा-सम्पत्तिम्, आनयन्ती-हठादपहरन्ती, अरीणां-शत्रूणां मूर्ध्नः
 शिरसि हरन्ती एषा मम असेः खड्गस्य, धारा, रिपुकुलस्य
 उत्तमाङ्गे मस्तके चरतु । 'मम असिधारा' इत्यत्र ममेत्यस्य असिना
 सद्संबन्धः, ततश्च देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवन्नित्यसाकाङ्क्षत्वात्समासेऽपि
 तेनैव सहान्वयो बोद्धव्यः । भिन्नार्थत्वात्परशब्दे न कथितपदत्वदोषः,
 अत्रापि तस्या निःसारणपूर्वकं प्रकारान्तरेण तत्कार्याणां कथनात् भावि-
 युद्धोद्योगः सूच्यते । परविषयगतां संपदामानयन्तीत्यनेन च पञ्चमाङ्क-
 गतं लुण्ठनादि कार्यं बीजरूपेण उपक्षिप्यते ॥ २५ ॥

प्रतापः—(भूमिं स्पृष्ट्वा प्रणमति प्रतिजानीते च ।)

यावन्मे धमनीमुखेषु रुधिरक्लेदोऽपि सन्तिष्ठते

मांसं वाऽस्थनि तिष्ठति कचिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः ।

तावन्म्लेच्छपतेः कथंचिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम् ।

स्वातन्त्र्यस्य पदं समस्तवसुधां नेतुं यतिष्ये भृशम् ॥२६॥

(अथ सर्वे स्वशस्त्रायुद्यम्य प्रतिजानीते)

सर्वे—एवं सति वयं सर्वे त्वदायत्तजीवनाः ।

अथ प्रतापो हस्तेन भूमिं स्पृष्ट्वा तत्रस्था भूम्यधिष्ठायाकदेवता प्रणमति । हस्तेन पादं स्पृष्ट्वैव उत्तमप्रणामव्यवहारो भवतीति तमेवासौ विदधाति । प्रतिजानीते चेति । वक्ष्यमाणः प्रतिज्ञा च करोति । यावन्मे इत्यादि । यावत्पर्यन्तं मे धमनीमुखेषु-नाडीप्रान्तेषु, रुधिरक्लेदोऽपि-रुधिरश्यार्द्रताऽपि, सन्तिष्ठते-विद्यते इत्यर्थः । अथ रुधिरार्द्रतानाशेऽपि स्वस्थता संभवतीत्याह-मांसमिति । वा-अथवा यावत् अस्थनि कचिदपि मांसं तिष्ठति विद्यमानमित्यर्थः । रक्तमासविनाशेऽपि जीवति सत्याह । किं बहुना-यावत् प्राणाः शरीरे स्थिताः विद्यमानाः सन्ति, तावत् अहम्-अहमिति-स्वाभिमानसूचकम्, क्षत्रियकुलोत्पन्नः आर्यजातीयोऽहं प्रतापः. कथमपि-केनापि सामादिप्रकारेण, म्लेच्छपतेरकबरस्य, निघ्नताम्-अधीनता, न प्राप्स्यामि, किं तु समस्तवसुधा सम्पूर्णा पृथिवी, स्वातन्त्र्यस्य पदं स्थानं, नेतुं-प्रापयितुं, भृशमत्यन्तं, यतिष्ये-यत्नं करिष्यामि । 'धमनी' ति 'नाडी तु धमनिः शिरा' इत्यमरः । अथ 'सर्वतोऽक्तिन्नर्यादित्येके, इति ङीप् । 'संतिष्ठते' इत्यत्र 'समवप्रविश्यः स्थः, इत्यात्मनेपदम्, 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् । वसुधावदेन वसुधारकत्वात्तस्याः स्वातन्त्र्य-प्रापणम् आवश्यकमिति सूच्यते ॥ २६ ॥

अथ प्रतापस्य प्रतिज्ञामाकर्ण्य उत्साहोद्रेकाद् वीररसपूर्णास्तत्रस्थाः सर्वेऽपि स्वशस्त्राणि उन्नीय प्रतिज्ञा कुर्वन्ति । तामेवाह-एवं सतीति । 'यदि म्लेच्छपतेरधीनता न प्राप्स्यामि, समस्ता पृथ्वी च स्वातन्त्र्यपदं प्रापयितुं यतिष्ये' इति भवता निश्चयस्तिर्हि वयं सर्वेऽपि 'त्वदायत्तजीवना'

किञ्च—

घर्मविन्दुरपि यत्र शरीरात्तावकान्निपतितः समरे स्यात् ।

तत्र शोणितभवाः शतशः स्युः प्रत्यनीकपृतनासु तटिन्य ॥२७॥

(ततः समयमिव सा वाराङ्गना पुनरुपेत्य ।)

वेश्या—महाराज ! त्वमस्य माम् । अद्य प्रभृति अहं कापाय-
वसना योगिनीवेपेण भिक्षामाचरन्ती शौर्यसंचारि-
गानयलेन सहस्रशो वीरान् देशसेवार्थं सज्जीकरिष्यामि,

इति । तत्र आयत्तम्—अधीन जीवन येषां ते तथा, त्वदधीनजीवना ।
यत्र यथा अस्माकं जीवनैः प्रयोजनं स्यात् तत्र तथैव नियोजय, नैवास्माकं
ननु नचेत्यादि किमप्यत्र वक्तव्यमस्ति ।

किं चेत्यादि । नैव अजाविकादय इव शौर्यरहिता अकिञ्चित्कराश्च
वयं किं तर्हि इत्याह—घर्मविन्दुरिति । यत्र—यस्मिन्, समरे—सग्रामे,
तावकात् त्वदीयात् शरीरात् घर्मविन्दुरपि निपतितः स्यात्—यदि निपतेत्,
तर्हि तत्र समरे—तत्रैव सग्रामे इत्यर्थः । प्रत्यनीकपृतनासु शत्रुसेनासु,
शोणितभवा—प्रत्यासत्त्या शत्रुसैनिकानां रक्तोत्पन्ना शतशस्तटिन्यो नद्य-
स्युः, भविष्यन्तीत्यर्थः । अत्र भवत साधारणदुःखदशायां स्वेदविन्दुनिपा-
तेऽपि यदि वयमेव करिष्यामस्तर्हि भवत शरीरतो रुधिरनिपाते शत्रूणां
किं करिष्याम इति तु वर्णनातीतमेवेति तेषामाशयः ॥ २७ ॥

समयमिवेति । अपराधिना हृदये स्वाभाविकमेव भयं भवतीति
समयमिव सा प्रतापसमीपे गत्वा कथयति । किं कथयतीत्याह—महाराजे-
त्यादि । कापायेति । कपायेण रक्तानि वस्त्राणि कापायाणि । कापायाणि
वसनानि वस्त्राणि यस्यां सा, त्यक्तगृहकार्या विरक्तैत्यर्थः । अथ आजीव-
नोपायमाह—योगिनीवेपेण भिक्षामाचरन्ती 'भिक्षया आजीवनं प्रायश्चित्तं
मेवैति' प्रायश्चित्तं कुर्वती । अथ तत्फलमाह—शौर्येत्यादि । शौर्ये
संचारिण—शौर्यप्रादुर्भावकस्य, गानस्य बलेन । इडादित्रयं शौयोत्पादकेन
गानेनेत्यर्थः । सहस्रशो वीरान्, देशसेवार्थं—देशस्वातन्त्र्यार्थं, सज्जी-
करिष्यामि प्राणानपि त्यक्तुमुद्यतान् करिष्यामि । अन्यदप्याह—कातरा-
णामपीति । सुदुर्बार्ताश्रवणमात्रतोऽतिकम्पितहृदयानामपि हृदये,

कातराणामपि हृदये दृढमतिप्रबलं शौर्यं संचारयिष्यामि,
नातः परं भवद्राज्ये कोऽपि कातर उपलप्स्यते ।

(इति पादयोः पतति ।)

प्रता०—उत्तिष्ठ, देशसेवार्थमेवमेव विधेहि ।

नेपथ्ये

साधु साधु सर्वे भवन्तो दृढसंकल्पाः सन्तु ।

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्री म० म० मधुगप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके राज्यपीठाधि-
रोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

किमुत अकातराणां हृदये । दृढमतीत्यादि । दृढा मतिर्यस्मिन् तत् ,
परादमुखविचाररहितम् । अथवा-दृढम्-निश्चितम्, अतिप्रबलम्-अत्यन्त-
युद्धाभिनिवेशयुक्तं, शौर्यं संचारयिष्यामि-प्रतिक्षणमुच्छ्रलद्रुकेषु अहं
शौर्यमभिनिवेशयिष्यामि । किं बहुना, तथाभिमतादत्यधिकतरमहं संपाद-
यिष्यामि । किं तदित्याह-नातःपरमित्यादि । अतः परम्-मम गमना-
नन्तरमेव प्रारम्भमाणमत्कार्योत्तरकालादनन्तरं भवद्राज्ये समस्तराज्येऽपी-
त्यर्थः, कोऽपि-एकोपि, कातरः नोपलप्स्यते सर्वथा कातराणामभावात्त-
त्प्राप्तिसंभवाधिनीमेव विधास्यामि । मा ह्यमस्व, इति एवं, कथयन्ती
सती पादयोः प्रतापस्येति शेषः पतति ।

अथ प्रतापस्तामादिशति-उत्तिष्ठेति । स्वकार्ये सन्नदा भव । देश-
सेवार्थम्-एतेन पुण्यातिशयो बोध्यते, तथा हि एतत्कार्यसंपादनेन देश-
स्वातन्त्र्यलाभात्समस्तब्राह्मणक्षत्रियवैश्येत्तरेषां स्वत एव सेवा संपादिता
भवति । एवमेव-यथा त्वया उक्तं तथैव, विधेहि ।

नेपथ्ये इति । कुत्राप्यनिर्दिष्टस्थाने स्थितः कश्चिद् देवो ऋषिर्वा
कथयति । साधु साधु-अतिशोभनमिदं भवतां कार्यम् । दृढसंकल्पाः-
अपरित्यक्तप्रतिज्ञा भवन्तः सन्तु । इत्याशिषं ददाति । अत्र आशिष्यर्थं
लोट् । इत्याशिषोऽनन्तरं सर्वे निष्क्रान्ताः ।

इति श्री म० म० मधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां
राज्यपीठाधिरोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः सुखासीनः प्रतापः ।)

प्रतापः—(क इदानीं द्वारपाल इति ज्ञातुं घण्टिकां वादयति)

दौवारिकः—(प्रविश्य) जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—शक्तिसिंहमाह्वय ।

दौ०—जं देवो आणवेदि ।

यत् देव आज्ञापयति ।

(इति निष्कान्तः ।)

दौ०—(शक्तिविहमुपसृत्य) महाभाय ! तत्थ महाराओ

महाभाग्य ! तत्र महाराजो

भवन्तं दद्दुं अहिलसइ ।

भवन्तं द्रष्टुमभिलपति ।

अथ द्वितीयाङ्कमवतारयति । तत्र 'किमौर्ध्वदैहिक' मित्यादिना प्रथमाङ्के उच्यते पितुरौर्ध्वदैहिककृत्यकरणं 'पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः, इत्यादिना सूचयन्, 'आर्यस्थितीनाम्' इत्यादिना पुरोहितस्याशीर्षचनेनोपक्षिप्तमार्यमर्यादारक्षणं स्वकीयपृथ्वीपालनं च, 'खड्गो रणे नृत्यतु' इत्यादिना सूचितं भावियुद्धं धातुसंप्रदादिद्वारेण तद्विजयोपायं च दर्शयति । पितुरिति । पितृसम्बन्धौर्ध्वदैहिकसकलकर्मकरणानन्तरं, विरुद्धपक्षस्वामावात्, प्रजायाः स्वस्मिन्नुरागाच्च सुखासीनः आर्यमर्यादारक्षणोपायं चिन्तयन् पूर्वं शक्तिसिंहमात्मानुयायिनं कर्तुमुपक्रमते । तत्र शक्तिसिंहमानेतुमनुचरमाह्वयति—क इदानीमित्यादिना । दौवारिकः, प्रशुर्माह्वयति इति प्रतापभावमवगत्य प्रविश्य, 'जयतु जयतु' इत्यादिना

शक्ति०—दौवारिक ! महाराजं निवेद्य, अनुपदमेवागन्धामि ।

दौ०—जहा तुम्हाणं आणा ।

यया गुप्ताकन् आशा ।

(आगत्य प्रतापं निषेध निष्क्रान्तो दौवारिकः । यथास्थान-
स्थितश्च ।)

दौ०—(पुनः प्रविश्य) जेदु जेदु महारात्रो, सत्तिसाहसदिश्रो
जयतु जयतु महारात्रः, सनि सिद्दयहितः

सालुम्बो समुवट्टिश्रो ।

सालुम्बः समुपग्मितः ।

प्रतापः—प्रवेशय । (दौवारिकस्तां निवेद्य प्रवेशयति ।)

(यथास्थानं तिष्ठन्ति सर्वे)

(प्रतापः—उत्थाय नालुम्बं प्रणम्य शक्तिसिंहं हृदयेनालिङ्गति
पुनः परायृत्य यथास्थानं तिष्ठति ।)

प्रतापः—अस्थाने तस्मिन् दिवसि पित्रा क्रोधो

विहितः ।

शक्ति०—ममादृष्टमेव कारणम्, न किमपि तेषु वक्तव्यम् ।

यतः—

स्वागमनं सूचयति । देव इति । अत्र देवो राजा । महाभाग्येति
महत् माग्यं यस्येति तत्समुद्भौ । यतो महाराजस्त्वामाह्वयति, अतस्त्वमिदानीं
महाभाग्य एव संजातः । द्रष्टुमभिलषति-एतेन तस्मिन् आदरातिशयो
व्यज्यते ।

शक्तिसिंहः स्वस्य अदृष्टमेव कारणं मन्यमानः कथयति—ममादृष्टमेवे-
त्यादि । अदृष्टमिति पूर्वोपार्जितधर्माधिर्मादिजन्यं कर्म । तच्च फल-
चलाज्जायमानं सामान्यारराधिन विशेषापराधित्वे परिणमयति । न किम-
पीति । तेष्विति पूज्यत्वाद् बहुवचनम् । तस्मिन् पितरि, किमपि नैव
वक्तव्यम् । दापस्त्वेऽपि पूज्यत्वात्ते दोषविषयतया नैवोच्यन्ते । तदेव
दर्शयति । यत -यस्मात्कारणात् ।

पूज्यानां चरितानि वाच्यपदवीं नायान्ति लोके कश्चित्
 कन्याया यतिवेशतोऽपि हरणे पार्थो बुधै स्तूयते ।
 ज्ञात्वेत्याचरियं दुरोदरमिदं भीमाप्रजेन स्वयं
 धर्मात्मा स निगद्यते, पितरि तज्ज्ञात्वैव संतुष्यते ॥ १ ॥
 सालुभ्य - नैवम्-अस्त्यत्र कश्चिद् गृढामिसन्धि ,

पूज्यानामिति । लोके-जातित्वादेकवचनम्, लोकेषु सूक्ष्मविचार-
 शून्येषु जनेषु । यद्वा-लाक-संसारे कश्चिदपि पूज्याना पूजनीयाना महा-
 त्मनामित्यर्थः, चरितानि-कृत्यानि, वाच्यपदवीं-वाच्यस्य निन्दाविषयतया
 कथनोपस्य, पदवीं-स्थान, न श्रयान्ति न प्राप्नुवन्ति । तदेव दृष्टान्तद्वारेण
 समर्थयति—कन्याया इति । कन्याया -अनूढाया, एतेन तस्या हरणे
 महापातकित्व सूचितं भवति । यतिवेषत, यते सन्यासिनो वेषत याह्या
 डम्बरेण, एतेन विश्वासयोग्यता तस्य दर्शिता भवति । हरणे हठात्
 गृहीत्वा पलायने । एतेन महानर्गकारित्य तस्य सूचितं भवति । तथाहि-
 पूर्वं कन्याया हरणमेवानर्थजनकम्, तथापि अन्यवेषत, अथापि यतिवेषत ।
 पुनरपि हरण-हठात् गृहीत्वा पलायनम्, एव सत्वपि, पार्थ -पृथाया
 अत्य पाथोऽर्जुन, बुधै -विद्वद्भि, स्तूयते-प्रशस्यते, साधारणपुरुषै
 प्रशसन तु कश्चिद्भवेदपि पर तु स तु बुधै स्तूयते, अत एवोच्यते
 पूज्याना चरितानि वाच्यपदवीं नायान्ताति । अन्यदप्याह-भीमाप्रजेन-
 युधिष्ठिरेण, इदं दुरोदर-यस्येति दुरादर दुष्परिणाममिति ज्ञात्वा स्वयम्
 आचरितम्, न तु परपरया कनापि द्वारा मेवितम् । स युधिष्ठिर,
 धर्मात्मा धर्ममूर्तिर्धर्मदृष्टर निगद्यते । पितरि-पितृनिषये, तज्ज्ञात्वैव
 संतुष्यते । अथ भाव-यथा युधिष्ठिरो अतस्तेवनेनापि धर्मात्मा निगद्यते
 तथा रिना उदयधिहाऽपि पुत्रप्राणदण्डकारक उचितकार्येति भाव ।
 अथ अनुचितकार्यकारित्वात्तेया निन्दा व्यज्यते ॥ १ ॥

अथ तदभिज्ञेऽस्यदण्डसाधुभ्यः कथयति-नैवमिति । यथा अद्भुति-
 न्देदारसघातप्राणदण्डाऽनेन विहित इति भरद्वाजस्येति न तथाऽस्ति ।
 किन्तु अत्र प्राणदण्डविषये कश्चित्प्रधानमूला गूढ-अत्यन्ततिरोहित,
 अभिसन्धिमारोन्ध्राविषयक रहस्यमस्ति । किं तदिति दर्शयति—

अन्यदपि कारणम्—विचारितं तेनासीत् - यज्जगन्म-
ल्लाय राज्यप्रदानसमये अतिशयितविक्रमशीर्यसाहसा-
दिगुणमापन्नोऽयमेवौद्धत्यान् परिपन्थी भविष्यतीति
तेन तथाऽऽचरितम् ।

प्रता०—युज्यते चैवम् । शक्तिसिंह ! दिष्ट्या सालुम्बेन रक्षि-
तोऽसि । अयं ते प्राणरक्षकः पिता । यतः—

चाण्डालहस्तेषु समर्पितं त्वां

को नाम निष्काशयितुं समर्थ ।

धैर्यैश्चमाशालिमनाः प्रवीर

सालुम्बतातो यदि नान्तरा स्यात् ॥ २ ॥

सालुम्ब कारणान्तरं दर्शयति—विचारितमित्यादि । सुगमम् । अथ
प्रताप पूर्वोक्तकारणं दृढं मन्यमानं कथयति—युज्यते चैवमिति । एव
विधकारणेन तु प्राणरक्षकत्वात् युक्तियुक्तं भवति । अथ प्रतापः
शक्तिसिंहं कथयति । शक्तिसिंह ! त्वं दिष्ट्या शुभकर्मोदयात् रक्षितो
ऽसि । प्राणरक्षक इति । अथ तव भयत्राता पिताऽस्ति । तदेव
दर्शयति—

चाण्डालेति । चाण्डालानां हस्तेषु एकस्य चाण्डालस्य हस्तात्
अनुनयोक्तकोचदानसाहसादिना निष्काशयितुं शक्यते परंतु बहूनां
चाण्डालानां हस्तेभ्यः कथमपि नैव निष्काशयितुं शक्यते । समर्पित-
सम्यक् प्रकारेण अर्पितं, स्वकीयविश्वस्तपुरुषद्वारेण दत्तं त्वां को नाम
निष्काशयितुं चाण्डालहस्तेभ्यो रक्षितुमित्यर्थः । समर्थोऽस्ति । अद्यापि
तथामृतसामर्थ्यवान्नास्तीत्यर्थः । यदि धैर्यं—व्यवसाये स्थिरता, उक्तं हि
'व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्त्वम्' । चमा सहिष्णुता ताभ्यां शालि-
शोभनानां, मनो यस्य स । एतेन उचितानुचितकथनेऽपि तत्सहनपूर्व-
कमस्य अभिमतकार्यकारित्वं बोध्यते । तथा प्रवीर—प्रवृद्धो वीर प्रवीर,
एतेन शौर्यपूर्वकमपि अस्य कार्यसंपादने शक्तिबोधयते । सालुम्बतात—
पूज्यत्वाद् वृद्धत्वाच्च तातस्थानीयं सालुम्बं, पितुं समकालिकोऽयं

शक्ति०—एवमेवेतत् ।

प्रता०—सालुम्ब ! किमाज्ञापयस्येनम् ।

सालु०—(मनसि) ममौरसः पुत्रः संजात एव । अयमत्र स्थितः
परमैश्वर्यभोक्ता भवतु ।

(प्रकाशम्) अयं भवतां स्थापनिका । यथा भवद्भ्यो
रोचते ।

प्रता०—अयमस्मत्सविधे स्थितोऽस्मदीयसव्यबाहुरिव सर्वकायंपु
सहायको भवतु ।

सालु०—एवं सति

दृष्यद्विपक्षद्वित्तिपालसेना—

समुद्रकुम्भोद्भवशक्तिरेपः

सामन्तः । अन्तरा मध्ये न स्यात्—न भवेत् । 'यदायद्योरुपसंख्यानम्'
इति लिङ् । सालुम्बतातस्य मध्ये आगमनादेव त्वं चाण्डालहस्तात्
रक्षित इति भावः ॥ २ ॥

शक्तिर्बिहः कथयति—एवमेवेति । यथा भवद्भिरुक्तम्, एतदेवमेव ।
सालुम्बतातेनाहं रक्षितोऽस्मीति मे प्राणरक्षकत्वात्पितृवैत्यर्थः । किमा-
ज्ञापयसीति । किमयं भवता रक्षितो भवत्पुत्रस्थानीयो भवत्सविधे
तिष्ठतु, किं वा तथौरसः पुत्रो जात इति कृत्वा मम सविधे तिष्ठतु । स्थाप-
निकेति । यथा स्थापनिकायां रक्षकस्य तद्ग्रहणे नाधिकारो भवति, एव-
मस्य विषयेऽपि मम नाधिकारः, अयं तवैवेति भावः । यथा भवद्भ्य
इति । यदि एतद्रक्षणे पुनरपि मामाज्ञायन्ति भवन्तस्तदाऽहं तपा
विधास्यामि, अथारमीयस्थापनिकावदिमं ग्रहीतुमिच्छन्ति तदा गृह्णन्तु
इत्युभयप्रकारयोर्मध्ये यथा रोचते । भवद्भ्य इत्यत्र 'रुन्पर्यानां प्रीयमाणः'
इति चतुर्थो ।

दृष्यदिति । दृष्यन्तः—दर्पयुक्ताः, विपदाः—शत्रुभूताः, ये क्षिति-
पालाः—राजानः, तेषां या सेना सैव समुद्रस्तत्र, कुम्भोद्भव इव—अगस्त्य इव
राक्षिर्यस्य तन्नाशने अगस्त्यसमानः एष शक्तिर्बिहः चेद्—यदि तत्र सहायः—

तिष्ठेत्सहायमत्व चेत्तदा स्यात्

कियान् वराको यवनाधिनाथः ॥ ३ ॥

प्रता०—अस्त्वेवम् । मदभिन्नशरीर एवासौ तिष्ठतु ।

दश ग्रामास्तुभ्यं दीयन्ते तत्र ते संत्तानसत्ता सदा तिष्ठतु ।

इति स्वमुद्राङ्कितं लेखं विधाय तस्मै ददाति ।

सालु०—अनेन तवौदार्येण यावद्वंशपरंपरं क्रीतोऽस्मि ।

शक्तिः—महाराज ! श्रूयते राज्यलोभात्सगरसिंहो म्लेच्छराज-
मुपगतः ।

प्रता०—आः ! कोऽयं वराकः । गच्छतु, किमनेनापहियते । पश्य-
म्लेच्छाधिनाथस्य समस्तसैन्यमेकाक्यहं नाशयितुं समर्थः,
बन्धोर्गणस्यानुगतौ भवेयुर्द्वित्राः कलास्तस्य समूलनाशे ॥५॥

तवानुचरः सन् तिष्ठेत्, तदा अय प्रत्यक्षविषयीभूतो वराकोऽकिञ्चित्करो
यवनाधिनाथः अकथरः कियान्-कियत्परिमाणः स्यात् । यथा अगस्त्यः
क्षणेन समुद्रमशोपयत्तथैवायमपि विपक्षिणेना क्षणेन नाशयिष्यतीत्य-
किञ्चित्कर एवाकथरो भविष्यतीति भावः ॥ ३ ॥

अनेनेति ग्रामदान 'राजपद' प्रदानरूपेणौदार्येण । यावद्वंशेति ।
'यावदवधारणे' इति समासः । यावत्पर्यन्तं मे वंशपरम्परा तावत्पर्यन्तं
क्रीतोऽस्मि, मम भाविनी सन्ततिरपि तवानुगाभित् न त्यज्यतीति भावः ।
राज्यलोभादिति । राज्यस्य लोभात्-अनुचिताभिलाषात् । म्लेच्छराज-
मिति । म्लेच्छाना-प्रत्यन्तदेशवासिना राजा, न त्वस्माकमपीत्यर्थः ।
तमुपगतः तत्सविधे प्राप्तः । मा म्लेच्छराजः साहाय्यदानेन मेवाडदेशा-
धिपति विद्यास्यतीत्यभिलाषया तदासता प्राप्त इति भावः ।

प्रतापः सक्रोध कथयति-आः ! कोऽयमिति । आ इति काथ-
यूनकमव्ययम् । अय सगरसिंहो वराकोऽकिञ्चित्कर एव, न कुत्रापि
गणनीयः सामर्थ्यशून्यत्वात् । अनेन गतवता सगरसिंहेन किम् अपहियते,
न किञ्चिदप्यनिष्ट विधातु शक्यत इति भावः । पश्य—अन्तःकरणेन
विचारय । म्लेच्छाधिनाथस्येति मृगमम् ।

सालु० राजन्—एवमेवैतत् ।

शक्ति०—बहुकालातिपातः संजातः । पश्य—

तापं संजनयन्स्मृतिं कवलयन्स्तर्पं समुल्लासयन्

दृष्टिं संभ्रमयन्मनो विकलयन् स्वेदाम्बु संचारयन् ।

भूमिं संज्वलयन्नपोऽपचययन् पान्थान्समुत्सारयन्

वह्निं संघटयन् मृगानसितयन् सूर्यः समुज्जृम्भते ॥ ५ ॥

प्रता०—आम्, कथानुकथनेनाज्ञात एव बहुकालः संजातः ।

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । सालुम्बशक्तिसिंहो निष्क्रामतः ।)

शक्तिसिंहो मध्याह्नसमयमवलोक्य कथयति--कालेति । कालस्य-
माध्याह्निकस्नानकालस्य, अतिपातः-समयातिक्रमः, संजातः-अभूत् ।

तमेव मध्याह्नसमयं वर्णयति— तापमिति । तापं-संतापं, संजनयन्-
मम्यक् प्रकारेणोत्पादयन्, स्मृतिं-स्मरणशक्तिं, कवलयन्-कवलीकुर्वन्
अतिसंतापयशात्स्मरणशक्तेर्ह्रासो भवति । तथा तर्पं-पिपासा, समुल्ला-
सयन् वर्धयन्, 'उदन्या तु पिपासा तृट् तर्पो जग्धिस्तु भोजनम्' इत्यमरः
दृष्टिं दर्शनं ज्ञानं वा संभ्रमयन्-अतद्वति तत्प्रकारतयोत्पादयन्, मरीचिका-
जननात्, अत्यन्तसतापतयोद्वेगजननेनान्यथा बोधोदयाद्वा । तथा मनो-
मानसं, विकलयन्-व्याकुलं कुर्वन्, स्वेदाम्बु-स्वेदजलं, संचारयन्-प्रवाह-
यन् । भूमिं-पृथ्वीं, संज्वलयन्-अत्यन्तसंतप्ता कुर्वन्, अपो-जलानि,
अपचययन्-अपहारं कुर्वन्, 'अपहारस्त्वपचय' इत्यमरः । पान्थान्-
पथिकान्, समुत्सारयन्-प्रतिरोधयन्, अत्यन्तघमोदयात्पथिकानां गति-
प्रतिरोधं कुर्वन् । वह्निं संघटयन्—अतिसंतापवशात् धूलिकणेषु वह्नेः
प्रतीतिमिव जनयन्, मृगान् असितयन्-श्यामं कुर्वन् सूर्यः समुज्जृम्भते-
उदयमानः सूर्यः प्रचण्डः सन्नूर्ध्वमायातीति भावः । अत्र प्रतिचरणं
पूर्ववाक्येषु घटादीनां, मध्यवाक्येषु नामघातानां प्रयोगात् अन्तिमेषु स्यन्ता-
नाम् इति न मग्नप्रक्रमता । सूर्यस्यापि तथैवौष्यप्रारम्भमुपपद्यत इति
स्वभावोक्त्यलंकारः ॥ ५ ॥

प्रतापः—(किञ्चित्परिक्रम्य निःश्वस्य च अकबर लक्ष्मीकृत्य । मनसि ।)
 रे म्लेच्छाधिप ! दुर्विनीत ! फलितः कौटिल्यजालाकुलो-
 दिष्ट्या रूढपदस्त्वया विरचितो भेदप्रयोगः स्वतः ।
 यल्लोभोपहतस्त्वदीयशरणेऽभून्मे पितृव्यः स्विकां
 मर्यादामपहाय पूर्वपुरुषायातां श्ववृत्त्या स्थितः ॥ ६ ॥
 दौवारिकः (प्रविश्य) जेदु जेदु महाराधो । आगराण्यरा
 जयतु जयतु महाराजः । आगरानगरात्
 आयादो भद्रमुहणामा चारणो दुआरि चिट्टइ ।
 आयातो भद्रमुखनामा चारणो द्वारि तिष्ठति ।

तत्कौटिल्य स्मरन्क्रोधावेशवशात्तमभिलक्ष्य कथयति प्रतापः—
 रे म्लेच्छाधिपेति । रे इति असदामन्त्रणे, म्लेच्छाना भक्ष्याभक्ष्यादिवि-
 वेकरुशून्यानाम्, अधिपः प्रमुस्तस्मद्बुद्धौ, एतेन महापापाचारित्वमस्य
 द्योत्यते । दुर्विनीत ! एतेन स्वायंसाधरुशीलत्वमस्य बोध्यते । कौटिल्य-
 जालेन-मायाप्रपञ्चेन, आकुलो व्याप्तः, सर्वतो भावेन कौटिल्यप्रपञ्चितः,
 त्वया-अकबरेण, हृदिस्थत्वात् क्रोधावेशवशाच्च साक्षात्सन्मुखस्थितमिव
 मन्यमानेन युष्मच्छब्दप्रयोगः कृतः । विरचितः कोऽपि शिशोदियावंशीयः
 प्रतापविरुद्धस्सन्नस्मत्सविधे समायात्विति निर्मितो भेदस्य-प्रयोगः, दिष्ट्या
 त्वदीयशुभपारम्बोदयात्, रूढं-सजात, पदं-स्थान यस्य स तथा आरी-
 पितपदः सन् स्वत एव त्वदीयव्यापारनिरपेक्ष एव फलितः सफलता
 गतः । तमेव भेद दर्शयति । यत् लोभेन उपहतः—लोभोपहतः, राज्य-
 लिप्सया युक्तो मे पितृव्यः—पितृभ्राता सगरसिंहः, पूर्वपुरुषायाता-वश-
 परंपरानुगता, स्विका—स्वकीया, मर्यादा—स्वाधीनतारूपा स्थितिम्
 अपहाय त्यक्त्वा, “अधीनवृत्तिमेव श्वकृत्यं मन्यमानः कथयति” । श्ववृत्त्या
 ‘सेवा श्ववृत्तिराख्याता’ त्वदधीनवृत्त्या स्थितः सन् त्वदीयशरणेऽभूत् ।
 अयमेव भेदो यन्मे नितृष्यौ राज्यलिप्सया त्वत्सविधे प्राप्तः ॥ ६ ॥

आगरेति । अकबरनिवासस्थानात् स्वनामख्यातात्यत्तनात् ।
 पूर्वकमेति । पूर्वजन्मकर्मप्रभावेण अनु परचादस्मिन् जन्मनि प्राप्ता,

प्रता०—(मनसि) तन्नगरवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितश्चरोऽप्यम् ।
(प्रकाशम्) प्रवेशाय ।

(ततः प्रविशति तेन सह दौवारिकः ।)

प्रता०—दौवारिक ! त्वं स्वनियोगमशून्यं कुरुष्व ।

(ततो निष्क्रामति दौवारिकः ।)

प्रता०—भद्रमुत्त ! स्वगमनात्प्रभृति कथय आगरानगरवृत्तान्तम् ।

भद्रमु०—मुणोदु महाराजो । पुत्रं अरुवरेण अप्पाणं आरियं
शृणोतु महाराजः । पूर्वमरुवरेण आत्मानमार्यं

द्वितीयं संपादयित्वा बन्धुणा कहिया । तत्रो तेहिं बन्धुणेहिं
क्षत्रियं संपादयितुं ब्राह्मणाः कथिता । ततस्तैर्ब्राह्मणैः

कहियं । पुत्रकर्मणो पहावेण जहा राया वा धणिओ
कथितम् । पूर्वकर्मणः प्रभावेण यथा राजा वा धनिको

नित्याम् अग्निशिनीम्—अप्रच्युतस्थिरैकरूपा, जाति न कोऽपि, परावर्तयितुं-
शुद्धा जाति क्षत्रिया विधातु, समर्थः । जातेर्नित्यत्वात् न तत्परावर्तनं
भवतीति भावः । ननु 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति
प्रामाण्यात् क्षत्रावधिप्राणकर्तृत्वरूपा कर्मानुसारिणी क्षत्रियजातिः
सिध्यतु । चातुर्वर्ण्यमस्यार्यं भावः । गुणकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं
सृष्टमिति चेत्, चातुर्वर्ण्यं—मित्यस्याभिप्रायपरिज्ञानात् । तन्त्रैवम्—चातुर्व-
र्ण्यस्य सृष्टी कर्तृत्वं कस्येत्याकाङ्क्षाया मयेति पदयोष्यस्य ईश्वरस्येति
भवन्निरपि नक्तव्यम् । अन्यथा मयेत्यर्थकं स्यात्, गुणकर्मणोरचेतन-
त्वेन चातुर्वर्ण्योत्पादने सामर्थ्याभावाच्च । मया कृष्येन जगन्नियन्त्रा
ईश्वरेण गुणकर्मणी विभक्त्यं चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् । यथा दयादाक्षिण्यादयः
राभाविक्ता गुणाः, यजनयाजनाप्ययनाध्यायनदानप्रतिग्रहाः कर्माणि
ब्राह्मणानाम् । एवं क्षत्रियादीनामपि गुणकर्मणी विभक्ते एव । एतदशे
एवास्य तात्पर्यम् । किञ्च—यदि कर्मानुसारिण्येव जातिरित्यभिनिवेश-
स्तदा जीवस्य गर्भागमनसमये पूर्वजन्मकालिकं कर्मादायैव ।

वा रंको वा होइ एवं चैव पुत्रकर्मणो पहावेण
 वा रङ्गो वा, भवति, एवमेव पूर्वकर्मणाः प्रभावेण
 बम्हणो वा छत्तिओ वा सुद्धो वा होइ । पुत्रकर्मणा-
 ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा शूद्रो वा भवति । पूर्वकर्मा-
 गुणानां णिच्छां जाइं ण कोऽपि पमावट्टिउं समत्थो ।
 नुगता नित्या जातिं न कोऽपि परावर्तितु समर्थः ।

जातो जीवः समुत्पद्यते इति जायमानो बालो ब्राह्मणः क्षत्रिय इति
 व्यवहियते । उक्तं हि छान्दोग्ये पञ्चमेऽनुवाके । तद्यथा “इह रमणीय-
 चरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीया योनिमापन्नेरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं
 वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूया
 योनिमापन्नेरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।” इति ।
 एतदेवाभिप्रेत्य न्यायदर्शनसूत्रेऽप्युक्तम्—“पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः”
 इति । मनुनाऽप्येवमेवोक्तम्—“शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरता नरः ।
 वाचिकैः पक्षिमृगता मानसैरन्त्यजातिताम्” । इत्यनाशे एवास्य भावः
 संभवति न तु जायमानस्य ब्राह्मणादेः परावर्तने । क्रिच-गुणकर्मणो-
 रचातुर्वर्ष्येण सह कः सम्बन्ध इति जिज्ञासाया द्रव्यद्रव्यधोरेव संयोग इति
 नियमेन संयोगाभावाद्, अवयवावयविनोरिव गुणगुणिनोः क्रियाक्रिया-
 वतोरथ नित्य समवाय एव संबन्ध इति मन्वव्यम् । ततश्च ब्राह्मण-
 गुणानां न ब्राह्मणात्सार्थक्येनावस्थानं संभवति । एवं च ब्राह्मणोत्पत्ति-
 सहस्रता एव ब्राह्मणगुणा उत्पद्यन्ते, नहि दयादान्द्विद्यादयो गुणा
 आत्मगताः सन्तो ब्राह्मणस्वात्मन उत्पत्त्यनन्तरं स्थापयितुं शक्यन्ते ।
 नापि विभिन्नगतास्ते गुणा इति कथमपि नाधयितुं पार्यते । नापि
 ब्राह्मणस्यात्मनि अविद्यमाना गुणा अन्यस्थानादागत्य ब्राह्मणत्व
 साधयन्ति । किन्तु सहैव गुणाः समुत्पन्नाः, एव कर्मापि । अन्यकर्म-
 कर्तृत्वे तु अनधिकारचर्चैव विधीयते नतु ब्राह्मणत्वं विहन्यते । अत
 एव अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तं चाव्यापयीत इत्यादि समञ्ज्यते । इत्यलमन
 बहूक्तेन, इति प्रासङ्गिकत्वात्समयोपयोगाद् व्याख्यातम् । अथ
 प्रकृतमनुसरामः ।

प्रता०—साधु साधु ! विद्वद्भिर्युक्तियुक्तं शास्त्रमर्यादानुगतमेवो-
क्तम् । ततस्ततः ।

भद्र०—तत्रो तेहिं वम्हणेहिं कहियं, जहा तुमं दाणप्पहावेण
ततस्तेव्राह्मणैः कथितं, यथा त्वं दानप्रभावेण
राया भूओ एव्यं चैव विवेअपरिच्चाएण कपूआ-
राजा भूतः, एवमेव विवेकपरित्यागेन कपूया-
यरणेण मिलिन्धो जाओ । अओ पुव्वकम्मप्पहावस्स
चरणेन म्लेच्छो जातः । अतः पूर्वकर्मप्रभावस्य

प्रतापः कथयति—विद्वद्भिः-श्रुतिस्मृतिपुराणतत्त्वज्ञैः, अत्र बहुत्वात्
सर्वरूप्यैकमत्येन उक्तमिति बुध्यते, युक्त्या युक्तं-तर्कस्थानुकूलम्, शास्त्राणा-
श्रुतिस्मृतिपुराणानां, मर्यादायाः-श्रातपुरुषव्यवहारस्य च अनुकूलमेवा-
भिहितम्, न खलु तेषामुक्त्या शास्त्राण्याप्तव्यवहारश्च भिद्यन्ते इति ।
'श्रातवचन वेदाश्च प्रमाण'मिति वदता न्यायसूत्रकारेण श्रातवचनस्य
वेदसत्प्रामाण्यं स्वीकृतमिति तैर्विद्वद्भिरपि तदनुकूलमेवोक्तमित्यर्थः ।
दानप्रभावेणेति । प्रत्येककर्मणो विभिन्नफलजनकराद् दानकर्मणः फलं
घनिना कुले समुत्पत्तिः ।

ननु दानादिशुभाप्यवसायराद् यथा राजराजेश्वरस्य गृहे जन्म
एवमेव तस्मादेव शुभाध्यवसायाद् ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वा गृहे जन्म
कथं न जातमिति तद्विविच्य दर्शयति —

विवेकपरित्यागेनेति । विवेकस्य भद्रशामदयादिविचारस्य परि-
त्यजेन । कपूयेति । कपूयाना दुष्कर्मणामाचरणेन म्लेच्छा म्लेच्छजाती-
यो यरनो जातः । अतः पूर्वकर्मणि । पूर्वजन्मनि कृतस्य कर्मणः प्रभा-
वस्य अस्मिन् यवनशरीरे विद्यमानत्वान् अनेन यवनशरीरेण क्षत्रियो न
भविष्यति । ननु-“अस्त्रीकारेण शतीनां ब्राह्मणानुग्रहेण च । पूयन्ते तत्र
पाणिष्ठा महानातकिनोऽपि ये” इति वचनप्रमाणप्राप्त्यादिना शुद्धि-
द्वारा तस्य क्षत्रियत्वमस्तु इति चेन्न, अस्त्रीकारेणेति वचनस्याप्राशो-
असंबन्धात् । तथा हि अभयभक्तये अगम्यागमने च कृते सति ज्ञातिभिः

इमस्मिं सरीरस्मि विज्जमाणत्तेण अणेण सरीरेण
 अस्मिन् शरीरे विद्यमानत्वेन अनेन शरीरेण
 द्यत्तिञ्चो ए होइस्ससि ।
 च्चत्रियो न भविप्पसि ।

प्रता०—साधु, साधु, अद्यापि निःस्पृहाः सत्यैकनिष्ठा ब्राह्मणाः
 सन्ति । तस्ततः ।

भद्र०—जदा बहुलोद्दंशणप्रकारेण वि चम्हणा ए सत्यविमुहा
 यदा बहुलोभदर्शनप्रकारेणापि ब्राह्मणा न शास्त्रविमुखा
 जात्रा तदा अकबरः द्यत्तिएहिं सह संबन्धिउं उज्जुत्तो
 जाताः तदा अकबरः च्चत्रियैः सह संबन्धितुमुद्युक्तः ।

परित्यक्तस्य महापातकिनः प्रायश्चित्तादिना शुद्धौ ब्राह्मणैरनुग्रहबुद्ध्या
 आमन्त्रणनिमन्त्रणस्वीकारादिना तत्संग्रहे कृते ज्ञातिभिः सहभोजनादिना
 तत्स्वीकारे च कृते महापातकिनः शुद्धिरित्यत्रैव तात्पर्यं न तु पूर्वजन्मकृत-
 पापप्रभावेण समुत्पन्नस्य शुद्धिरपि बोध्यते । किञ्च ज्ञातिभिः परित्यक्तस्यैव
 ज्ञातिभिरङ्गीकारो विधीयते, न तु ज्ञात्यपरित्यक्तस्य अन्यज्ञातिसमुत्पन्न-
 स्यापि । अपि च यवनज्ञातिसमुत्पन्नस्य स्वसमानज्ञातिभिरेव स्वीकरणं
 विधीयते नतु विजातिभिः । अन्यच्च-पातकित्वमपि तस्य न विध्यति,
 किमुत महापातकित्वम् । तथा हि—कपूयाचरणपातकप्रभावात् यवनकुले
 समुत्पत्तिरिति तत्पातरूपलभोगस्तु जात एव । पातकरूपलभोगानन्तरं
 पापस्यैवाभावात्, न खलु विहितापराधदण्डभोगानन्तरमपि दण्डः
 संभवति । अतो म्लेच्छज्ञातिसमुत्पादकपापस्य म्लेच्छजातौ उत्पत्तेस्तत्फल-
 भोगेन तत्पापस्य नाशात्किञ्च तं प्रायश्चित्तं स्यादिति न प्रायश्चित्तादिना
 च्चत्रियो भवितुमर्हतीति तात्पर्यार्थः ।

बहुलोभेति । राज्यदानमानादिलोभदर्शनस्य प्रकारेणापि यदा
 ब्राह्मणाः ब्रह्म वेदस्तजानन्तीति ब्राह्मणाः, वेदार्थतत्त्वज्ञाः शास्त्रविमुखाः
 शास्त्रमर्यादापराङ्मुखा न जाताः । यदा शास्त्रविमुखा इति । अपिशब्दो
 भिन्नक्रमः शास्त्रविमुखा अपि । शस्त्रेभ्यो विमुखाः मरणपराङ्मुखा अपि

मानं विहाय यदि जीवसि तर्हि नार्यो
लोकास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः ॥७॥

ततस्ततः—

भद्र० तत्रो इत्रो रज्जलोहात्रो विणिक्तो सत्ररसीहो
तत इतो राज्यलोभाद्विनिष्कान्तः सगरसिंहा
मिलिच्छाहिरायं उवगत्रो ।
म्लेच्छाधिराजमुपगतः ।

प्रता०—श्रुतमेतत् । ततस्ततः—

भद्र०—तत्रो तेण भोदीयपयाजणवट्टमाणो सत्रलो वि वुत्तंतो
ततस्तेन भवदीयप्रजाजनवर्तमानः सकलोऽपि वृत्तान्तः
कहित्रो, तं सोऊण पडिण्णायं मिलिच्छराण्ण ।
कथितः, त श्रुत्वा प्रतिज्ञात म्लेच्छराजेन ।
तुमं चेव मेवाडदेसाहिवइं करिस्सामित्ति ।
त्वामेव मेवाडदेशाधिपति करिष्यामीति ।

म्लेच्छराजस्याकबरस्य, अनुवर्त्तनेन-अनुयायितया देशदास्यतासमादनेन,
क्रियत्-क्रियस्परिमित, धन स्यात्, देशदास्यतासमादानापेक्षया बहुतरमपि
धनमल्पमेवेति भावः । अथ मानशून्यस्य आर्यस्य जीवनमपि न संभव-
तीति कथयति । यदि त्वं मानं क्षत्रियत्वाभिमानं विहाय स्वक्त्वा जीवसि
तर्हि नार्यः, आर्यो नास्ति । अथना न आर्यो नार्यः, नार्यं नञ्, किन्तु
निर्देधार्यको न शब्दः । अनायोऽस्त्यर्थः । न खलु मान परित्यज्य आर्यो
जीवन्तीति भावः । अथवा मानपरित्यागेन मानसिद्धेति नाम्न्यपि मानपद-
परित्यागात् यदि जीवसि-यदि ते स्थितिर्भवति, तर्हि नार्यः किन्तु कार्याकार्य-
विवेकशून्यः मूर्खप्रकृतिरुः सिद्धः पशुरेवासीत्यर्थः । अथ भाविनि कालेऽपि
तव दुर्यस इति प्रदर्शयति-लोका जनास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः
'स्वदीयचरितानि गर्हिततया स्मरिष्यन्तीति भावः । 'विभाषा कथमि-
लिङ् च' इति भविष्यदर्शने गर्हाया लिङ् ॥ ७ ॥

प्रता०—(सक्रोधम्)

रे नीचाधिप ! चिन्तयात्मकुशलं न स्थास्यसि त्वं चिरं
कृत्तां मन्निशितासिना स्वपृतनां श्रुत्वैव संघट्यसे ।
यच्छक्तिं मिलितः प्रतापविजयस्त्वज्जय्यतानिर्गतो
वीर्यामधिपः स जीवति, कथं मेवाडमोक्षिष्यसे ॥ ८ ॥

ततस्ततः—

भद्र०—तथो सो सयरसीहो तन्वयणं बहु मण्णंतो अप्पाणं
ततः स सगरसिहस्तद्वचन बहु मन्यमानः आत्मानं

प्रतिज्ञातमिति । प्रतिज्ञापूर्वं कथितम्, किं प्रतिज्ञातमिति तस्त्वरूपं
दर्शयति—त्वामेवेत्यादि ।

अथ मेवाडदेशस्याधिपतिं करिष्यामीति श्रवणतः सक्रोध कथयति
प्रतापः—रे नीचाधिपेति । रे इति असदामन्त्रणे । नीचाना-नीच-
प्रकृतिकाना, मानसिहसगरसिहादीनाम्, अथ वा-नीचाना नीचजातीय-
यवनादिशूद्राणाम् अधिपः, न तु आर्यब्राह्मणादिहिन्दूनामप्यधिपस्त्व-
मिति भावः । तत्संयुद्धो हे नीचाधिप ! आत्मकुशलं—स्वकुशल, चिन्तय-
स्वकुशलम्य सदसत्ता विचारय । त्वं चिरं—बहुकालं, न स्थास्यसि—न जीवि-
ष्यस्यस्यस्यः । कथमिति चेद् दर्शयति । मम निशितेन—तीक्ष्णेन, असिना-
गड्गेन, कृत्ता—छिन्ना, स्वपृतनां—स्वकीयसेना, श्रुत्वैव—श्रवणमात्रत एव,
संघट्यसे—दग्धान्त-करणः सन् मृता भविष्यसि । तत्र हेतुं प्रदर्शयति ।
यन्—यस्मात्कारणात् शक्तिं—शक्तिसिद्धम्, अथ च प्रमात्रोत्साहमन्त्रणा
शक्तिं, मिलितः—संगतः, मिलित इत्यत्र गत्यर्थत्वात्कर्तरि प्रत्ययः ।
प्रतापविजयः तस्मात्कारणात्त्वज्जय्यतानिर्गतः, जेतु शक्यः—जय्यः, तस्य
भावो जय्यता ततो निर्गतः, जेतु शक्यताया दहिर्भूतः, वीर्यामधिपः—
वीराधिपतिः, सः प्रसिद्धः, प्रतापविजयः जीवति, एव मेवाड कथम्
क्षिष्यसे । प्रतापे जीवति एति ते मेवाडदर्शनमपि न संभवति कुतस्तत्रैव
इति भावः ॥ ८ ॥

तत इति । तदनन्तरं, स सगरसिंहः, तद्वचनं—तस्य अकबरस्य
वचनं, बहु मन्यमानः—यथा अनेन प्रतिपादितं तथैवार्थं करिष्यति, मा

तद्वद्रे समप्पियवतो । तद्वद्रे मिलिन्द्वाहिराएण
 तदर्थे समर्पितवान् । तदनु ग्लेञ्जाधिराजेन
 चित्तोरप्पदेशस्स दुग्गो तस्स विन्नो । अत्रो पर भवन्तो
 चित्तोरप्पदेशस्य दुर्गस्तस्मै दत्तः । अत पर भवन्त
 पमाण ।

पमाणम्

(ततो निष्क्रान्तो भद्रमुखः ।)

(मनसि)

प्रताप—रे क्षत्रियापसद ! कुक्कुरवृत्तिमाप्तो

नीचाश्रितोऽसि परिहाय निजप्रभावम् ।

नाहं तव स्मृतिपथ समुपागतः स्या

मात्मीयतातचरितं तु कथं स्मृतं न ॥ ६ ॥

रे रे कातर ! दुर्विदग्ध ! कुमते ! भेदैकवाचस्पते !

मद्दुर्धर्षसुवीरविन्नमभिया किं लीयसे स्वक्षिती ।

मेवाहाधिपतिं विधास्यतीति तदाशयः । आत्मानं स्व तदर्थं ग्लेञ्जा
 धिपतये समर्पितवान्, तदाश्रिता स्वीकृतवान् । तदनु इत्यादि सुगमम् ।

प्रताप मनसि कथयति—रे क्षत्रियेति । क्षत्रियेष्वपसद नितरा हीन-
 स्तत्सबुद्धौ, रे क्षत्रियाधम ! कुक्कुरवृत्तिं स्ववृत्तिमाप्तं सन्, निजप्रभाव-
 स्वप्रतिष्ठा, परिहाय त्यक्त्वा, नीचाश्रितोऽसि शूद्रजातीय ग्लेञ्जराज-
 माश्रित्य स्थितोऽसीत्यर्थः । अहं तव स्मृतिपथ—स्मरणविषयता, न
 समुपागतः स्याम्, आत्मीयतातचरितं—परमशौर्यशालितया सुप्रसिद्धम्
 आत्मीयतातस्य भीषज्यसागरयतातचरणस्य चरितम्, यो हि एकाशा-
 तिव्रखैर्जर्जरितोऽपि स्वाधीनता न त्यक्तवानित्यादि तु कथं न स्मृतम्,
 त्वया दृष्टमेव तचरितं स्मृतिपथं कथं न नीतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रे रे कातरेति । रे रे कातर ! रे मीरो !, रे दुर्विदग्ध ! रे कुमते !
 दुष्टमते !, रे भेदैकवाचस्पते ! भेदे परस्परभ्रात्रादीनां विभिन्नतावैरादि-
 सपादने एकोऽद्वितीयो वाचस्पतिः, तत्सबुद्धौ, भेदोत्पादने परमबुद्धि-
 शालिन् ! मम दुर्धर्षा—परमशौर्यशालितया दुर्जयाः, ये सुवीरा—

धिकं त्वां यत्समरे ममैव कुलजं योद्धुं नियुङ्क्ते भयाच्
चित्तोरं नच रक्षितुं प्रभवसि त्वं तु प्रतापोन्मुखः ॥१०॥
परमयं सगरसिंहः कथं तमुपगतः ।

(पुनर्विचिन्त्य)

अस्तु । सगरसिंहस्यास्मत्पितृव्यस्यैवाधिकारे चित्तोर-
दुर्गं इत्यात्मवंशे एव, ततो नाहं यावत्सगरसिंहं
तं परावर्तयितुं यतिष्ये ।

तत्परावर्तने वंशे वैरभावः समुज्ज्वलेत् ।

दोषः पितृव्यघाते स्यात् तस्मात्तत्रैव तिष्ठतु ॥ ११ ॥

परमात्मवीराः तेषां विक्रमभिया-पराक्रमभयात्, स्वतितो-स्वकीयममौ,
किं लीयते । स्वनिवास विहाय बहिरागत्य मुद्राय किं न सज्जीमवसि ।
यत्-यस्मात्कारणात्, त्वं प्रतापोन्मुखः-प्रतापसंभ्रमस्थितः, चित्तोरं-
चित्रपुरनामकं दुर्गं रक्षितुं न प्रभवसि, तद्रक्षणे न समर्थो भवसि
तत् तस्मात्कारणान्मे मम वैरविधौ ममैव पितृव्यत्वात्पूज्यं कुलजं
पितामहपुत्रं सगरसिंहं योद्धुं भयाद् नियुङ्क्ते-नियोजयसि । यवनहस्ता-
न्चित्तोरदुर्गोद्धार आवश्यकः, तदुद्दारे पितृव्य एव परिपन्थीत्यसम-
श्रममेव ॥ १० ॥

पुनरिति । यवनहस्ताच्चित्तोरदुर्गोद्धार इत्येवास्मत्कर्तव्यं तच्च निष्पन्न-
मेषेति पुनर्विचिन्त्य मनसि कथयतीत्यप्याहार्यम् । अथ विचारस्वरूपं
प्रदर्शयति—सगरसिंहस्येत्यादि सुगमम् ।

तत्परावर्तने इति । तस्य-चित्तोरदुर्गस्य, परावर्तने-
सगरहस्तादुद्धृत्य स्वायत्तीकरणे, वंशे-स्वकीये एव वंशे
वैरभावः समुज्ज्वलेत्, संभारनायां लिङ् । सगरविनाशे केचित्तरक्ष-
पातिनो वैरापिभ्यन्ते इत्यर्थः । किञ्च-पितृव्यस्य, घाते-मारणे, दोषः
स्यात्, पितृव्यमारणे महापातकं च संपद्येत । तस्मात् वंशे वैरमयाति-

(अयोपतिष्ठते दीवारिकः ।)

दौवा०—जेटु जंटु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—किमस्ति ।

दौवा०—कण्णरावतकन्हपुरोहिआइआ दुवारि समुवट्टिया ।

कण्णरावतकण्णपुरोहितादिका द्वारि समुपस्थिताः ।

तत्थ भवंतं दट्ठुं अहिलसन्ति ।

तत्र भवन्तं द्रष्टुमभिलपन्ति ।

(प्रतापः स्वयं द्वारि समुपतिष्ठते । सर्वान्सानुनय प्रवेशयति ।

‘विजयतामेकलिङ्गेश्वर इति परस्परमभिब्रुवन्ति । ततो

यथास्थानं सर्वे उपविशन्ति ।)

प्रता०—किमाज्ञापयितुमनुगृहीतोऽयं जनः ।

पुरोहितः—राज्यपीठाधिरोहणानन्तरं प्रथमपर्वसंप्राप्तौ आखेटार्थं

गन्तव्यमेव खलु कुलाचारः, तत्राखेटलाभालाभाभ्यां

भाविशुभाशुभकल्पनं क्रियते । अतोऽद्य भवद्भि-

राखेटार्थं गन्तव्यम् ।

प्रता०—यथा भवतामाज्ञा ।

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । द्वारि समुपतिष्ठन्ते ।)

प्रता०—दीवारिक ! आखेटे गन्तव्यमिति चेताकं सज्जीकारय ।

तृव्यमारणप्रायश्चित्तभयाच्च तत्रैव अस्मद्देशीये सगरसविषे एव
तिष्ठतु । एतेन अस्मदभीष्टसिद्धिरपि सपद्यते एव ॥ ११ ॥

विजयतामिति । विजयतामेकलिङ्गेश्वरः स्वाभीष्टदेवता एक-
लिङ्गेश्वरः सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । अज्ञानिना हृदयेऽपि तव वासो
भवतु न ते स्वतः पराह्मुखा भवन्त्विति तात्पर्यार्थः । एतेत स्वाभीष्टदेव-
ताया विजयप्राप्तये न विरुध्यते । कुलाचार इति । एतेन तत्करण-
मावश्यकमिति व्यज्यते ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

दो०—जं देवो आणवेदि ।

यदेव आज्ञापयति ।

(इति निष्क्रम्य अश्वपरिचारकमाज्ञाप्य यथास्थानं स्थितः ।)

(सालुम्बादयः चेतकं प्रशंसन्ति ।)

सालुम्बः—अत्युत्तमस्ते चेतकः अहमेवं मन्ये ।

हरेर्हयैभ्यो हरितां परिक्रमे विनिर्गतो ऽसौ तव चेतको हयः ।

हरित्सवर्णो हरिवंशनायकं भवन्तमाराद्घुमुपागतो भवेत् ॥ १२ ॥

शक्ति०—महाराज ! चंचूर्यमाणं तस्य मुखं दृष्ट्वा अहमेवं संभावयामि ।

कथं क्षमायाः क्षणमात्रतः क्रमे

भवेन्नु मे सिद्धिरितीव चेतकः ।

चलाचलप्रोथपदेन मारुता-

त्मजस्य मन्त्रं जपतीव सन्ततम् ॥ १३ ॥

हरेरिति । हरितां—दिशां, परिक्रमे—परिक्रमणसमये, हरेः—सूर्यस्य हयैभ्यः अश्वैभ्यः, विनिर्गतः—सूर्यरथाद् बहिर्भूतः, हरित्सवर्णः—हरितां दिशां समानवर्णः, दिक्सदृशनीलवर्णोपलक्षितः, अयं—चेतकाण्यो हयः हरिवंशस्य नायकं—हरिवंशनायकं सूर्यवंशश्रेष्ठं, भवन्तम् आराद्घुं—सेवितुम्, भुवं—पृथिवीम्, उपागतो भवेत्, संभावनायां लिङ् । सूर्याश्वानां हरिद्वर्णोपेतत्वात्तस्यैवाशौ अश्व इति मे प्रतिभाति । तीव्रगतित्वात् सूर्याश्वानामिव वर्णोपेतत्वात् सूर्याश्वत्वेन उत्प्रेक्षापूर्वको निश्चयः ॥ १२ ॥

अश्वो भृशं नासिकोष्ठं चालयतीत्यश्वस्वभाव एव । तदवलोक्य उत्प्रेक्षमाणः शक्तिसिंहः प्रतापं संबोध्य कथयति—कथं क्षमाया इति । क्षणमात्रतः—क्षणमात्रेण, क्षमायाः—पृथिव्याः क्रमे—क्रमणे, मे—मम सिद्धिः कथन्नु भवेत्, इतीवेति । इति हेतोरिव, चेतकः चलाचलप्रोथपदेन—नितान्तचञ्चलनासिकोष्ठस्थानेन, मारुतात्मजस्य—हनुमतः, मन्त्रं, सन्ततम्—अविरतं, जपति इव । 'चलनं कम्पनं कम्पं चलं लीलं

रावतकृष्णः—महाराज !

पदे समुत्थाप्य तव द्विपो गलं

ग्रहीतुमिच्छन्निय खं विगाहते,

पुनश्च तत्र त्वनवाप्य ते रिपुं

रसातलं शोधयितुं समीहते ॥ १४ ॥

पुरो०—साधु रावतकृष्ण ! साधु । अनिर्वचनीयोऽस्य

चरणव्यापारः—

मत्स्वामिप्रतिपत्तमङ्गकुहरे कञ्चिन्निलीय स्थिता

गोत्रा गोरिपवे ददाति निभृतं धान्यं धनं भूरिशः ।

इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इति चामरः । चञ्चल नासिकोष्ठस्थानमवलोक्योत्प्रेक्षते, मासृततुल्यवेगवतो मासृतात्मजस्य प्रञ्चवित्त्वसिद्धये आराधनामयं करोतीति भावः ॥ १३ ॥

अथ रावतकृष्णश्चेतकाश्वस्य चेष्टामवगत्य तदवगतये प्रतापमुन्मुलीकरोति—पदे इति । असी चेतकः, पदे—हस्तस्थानीयौ चरणौ 'पदं व्यवहितत्राणस्थानलक्षमाङ्घ्रिवस्तुपु' इत्यमरः । समुत्थाप्य तव, द्विपः—शत्रोः, गलं—करुणदेशं, ग्रहीतुम्—उपादातुम्, इच्छन्निय, खम्—आकाशं, विगाहने । अयं तव शत्रोर्गलग्रहेच्छ्रयैव आकाशे पदे उत्थापयतीति भावः । अथ तव शत्रूणां युद्धत्यागेन पलायनानन्तरं मृतानामन्तरिक्षेऽप्राप्तेस्तस्य चेष्टान्तरमाह । अथापि आकाशे गमनानन्तरमपि, तत्र तु—आकाशे तु, त्वदीयं रिपुम्, अनवाप्य—अप्राप्य, पुनः, रसातलं—पृथ्वीतलं, शोधयितुं, समीहते—चेष्टां करोति । पापाचरणेन शत्रोगामिनं तं शत्रुमन्वेषयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ पुरोहितो रावतकृष्णोक्तिमनुमोदयन्पादकुहनं वर्णयति—मत्स्वामीति । गास्त्रायते इति गोत्रा—पृथिवी, कञ्चन—अनिर्वचनीयं धर्मविषदाचारित्वादग्राह्यनामानं, मत्स्वामिप्रतिपत्त-मम स्वामिनः प्रतिपत्तमृतं यवनम्, अङ्गकुहरे—कोटरूपे विवरे, निलीय—निह्नुत्य, स्थिता एतो, 'यवना मृता भूमौ निखन्यन्ते' इति यवनानामाचारस्तदेवाभित्यो-

इत्यस्या जडतां निरीक्ष्य बहुश क्रोधादिमां क्षोभयन्
पादात्कुट्टति शिञ्जयत्यपि जडे मव विदध्या पुन ॥ १५ ॥

प्रताप — एवमेवैतत् ।

(ततो निर्गच्छन्ति सर्वे ।)

(पटोन्नयनम्)

(आखेटमाचर्य एकत्रोपविशन्ति ।)

(तत प्रविशति आरण्यकप्रबन्धकर्ता सेनापतिः ।)

सेनापति.—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय आरण्यकानां वृत्तान्तम् ।

सेना०—

त्वदीयमाखेटकयानवृत्तां श्रुत्वैव भीता सहज विरोधम् ।

हित्वा समुद्रिग्नहृदश्च सर्वे पलायिता वन्यमृगाः समन्तात् ॥ १६ ॥

क्षेप्तवै-निलीय स्थिता गोत्रा, गोरिपवै-गवा शत्रवै यवनाय, निभृत-
विनीत यथास्यात्तथा 'वश्य प्रणोयो निभृतविनीतप्रश्रया समा' इत्यमरः ।
मूरिश घान्य ब्रीह्यादिक घनं स्वर्णरजतादिक ददाति । इत्येतत्स्वरूपा 'यद्
इय गात्रा गोरिपवै घन घान्य ददाती' तिस्वरूपाम्, अस्या-पृथिव्याः,
जडता मूर्खता, निरीक्ष्य, क्रोधादिमा गोत्रा, क्षोभयन्-सत्रासयन्, हे
जडे-मूर्खे, पुनरेव मा विदध्या इति शिञ्जयन्-बोधयन्सन्, पादात्कुट्टति-
ताडयति । नाय माह किं तु निषेधार्थको भाशब्दस्ततो छुट् न । यवना-
नुकूलाचरणादिमा पृथिवीमय कुट्टतीति भाव ॥ १४ ॥

तत इत्यादि सर्वं सुगमम् ।

अय सेनापतिराखेटवृत्तात् वर्णयति—त्वदीयेति । त्वदीय-
त्वत्सम्बन्धि, आखेटकयानवृत्तम्-मृगयागमनवृत्तान्त, श्रुत्वैव-आकर्ण्यैव,
नत्ववलोक्येति भाव, भीता-प्रस्ता, समुद्रिग्न हृदय येषा ते तथा-
मयोद्रिग्नमानसाश्च, सर्वे वन्यमृगा-सिंहवराहशशमृगादय, सहज
विरोध-स्वाभाविकं गोव्याप्रादिसम्बन्धिन वैरमाव, हित्वा त्यक्त्वा,

कि बहुना—

एकः खे द्विजराजमध्यमहितः सुस्थो मृगो मोदते

वर्हीं शक्तिधरस्य राजति सुखी हंसो गिरः शोभते ।

शेते शैलसुताहरिर्गजमुखः क्रीडत्युमाङ्कान्तरे

यान्त्यन्ये भयतो दिशोऽपि विदिशः सर्वेऽप्यरण्योद्भवाः ॥१७॥

समन्तात् पलायिताः । भयान्न कश्चिदपि विरोधिनमवलोकयतीति संभूय सर्वे गच्छन्तीति भावः । एतेनास्य प्रतापातिशयो बोध्यते ॥ १६ ॥

अथाखेटवहिर्भूतान्मृगान् दर्शयति । एकः इति । एकः केवलाः, 'एको मुख्यान्वकेवलाः' इत्यमरः । खे-आकाशे, द्विजराजश्चन्द्रस्तस्य मध्ये महितः पूजितो, मृगः, सुस्थः भयादिरहितः सन्, मोदते-आनन्दति, तत्र खे गमनाभावात् तस्य भयमस्तीत्यर्थः । तथा अन्यः, शक्तिधरस्य-स्वामिकार्तिकस्य वर्हीं-मयूरः, सुखी राजति, स्वामिकार्तिकस्य संबन्धान्न तस्य भयमस्तीति भावः । तथा अपरः गिरः-सरस्वत्याः, हंसः शोभते । देहलीदीपकन्यायात् सुखी इति उभयत्र संबध्यते । तथा एकः शैलसुतायाः, हरिः-सिंहः, शेते, सुखावस्थायाम् शयनमिति सिंहस्वभावः । तथा एको गजमुखः-गजाननः, गजमुखत्वाद्गणकारणं सूच्यते । उमाङ्कान्तरे-भार्यत्याः क्रीडमध्ये, क्रीडति, सोऽपि तत्रैव स्थितो न पुनर्वाहिः क्रीडति । एतेषां दैविकशक्तिसम्बन्धात् भवता तत्र गमनाभावाच्च न भयमस्तीति भावः । अन्ये सर्वेऽपि अरण्योद्भवाः पशुपक्षिसरोसुपादयो भयतः-भीत्या दिशोऽपि-मुञ्चितमार्गादपि, विदिशी-विहङ्गमार्गान्, यान्ति । एष एवा-खेटप्रकारः । यदेका दिक् पन्था वा तेषां पलायनार्थं मुच्यते, ततश्च प्रार-ब्धरहिता विदिशोऽनुषावन्तीति न तेषां हनने दोष इति तात्पर्यार्थः ॥१७॥

तत्र—

भवन्मौर्वीशब्दं भयविहितदीनार्तनिनदा

निशम्यालोक्य स्वान्मुतग्रहकलत्रप्रियजनान् ।

मृगाछासाद् गन्तु सजलनयनाश्चातिविरहात्

समायातु प्रेम्णा स्थितिमभिलषन्तो ददृशेरे ॥ १८ ॥

(ततः प्रविशति आरण्यकवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितश्वरः ।)

श्वरः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय तावदारण्यकानां वृत्तान्तम् ।

श्वरः—किं नाम तेषु वक्तव्यम्—

फेरुघोरि सपनगहने पादयुग्मे निपण्णः

किंचिच्चोर्ध्वं समुदिततनुर्द्रष्टुमीर्हा विधत्ते ।

फेल्कुर्वन्त्वान् खलु मृगयते स्थानतः स्थानमन्यत्

गच्छन् स्वेषु घ्रजति सहसा वाशितस्य क्रमेण ॥ १६ ॥

श्वरिच—

यर्ही स्वकेपां परिरक्ष्याय प्रसादयन्त्यति कानने त्वाम् ।

जात्याऽप्यवप्यत्वमसौ ततोऽगात्केकासमुद्रोषितसाधुवादः ॥२०॥

किञ्च हंसाः

चुं-चुं-कृतं तनयमात्मभिया विहाय

गच्छन् विहायसि परिक्रमिमातनोति ।

भूयश्च सन्निहितशालिनि धर्तमानो

हंसः स्तवीति तव कारुणिकप्रवृत्तिम् ॥ २१ ॥

तत्र विचित्रैव दद्या मृगराजस्य । यथा—

शिहो मत्तगजेन्द्रकुम्भदलने नासेवते विक्रमं

क्रोश्यातमपि चुघातहृदयो नो हन्ति तद् धेनुकम् ।

नादत्ते सलिलं च शुष्करसनो धर्माकुलो विह्वलः,

किन्तु त्राणमनाप्य घोरविपिने भीत्या परिभ्राम्यति ॥२२॥

गजस्तु—

नागो नैव सरोरुहेषु विचरत्याभ्रान्तचित्तो भिया

मन्दं मन्दमुपैति जोरकवनात्सभ्यक् क्षुघासंकुलः ।

शालोस्यापि निजां भियां स्वनयने सोन्दुवासमामीलयन्

निहोतुं स्थमलद्रिगं मृगयते नोर्चं त्वनोचरिपतिः ॥२३॥

किं बहुना—

व्यालो याति समूपकश्चटकिका श्येनान्विता निर्भया
 काकोलूककुलं परस्परमहो गोव्याघ्रमास्कन्दयत् ।
 तप्तः सूर्यकरैर्निपीदति शशो व्याघ्रोदरानातपे
 सर्वे प्राणभिया प्रयान्ति विदिशो नो शत्रुमाच्छिन्दते ॥२४॥

मुगमत्वान्न व्याख्यायन्ते । अन्व्याख्यत्वात्लक्ष्मणेषु प्रकाशिताः ।

अथ चरः आरण्यकाना वृत्तान्त वर्णयति—फेरुतिति । फेरु-
 पादद्वयमात्रे स्थितः, किञ्चित्स्वल्पमेव, ऊर्ध्वमुपरिभागे, समुदिता उन्नता,
 तनुः—शरीरं, यस्य सः, तथोक्तः सन्, द्रष्टुमीहा—चेष्टा, विधत्ते—करोतीत्यर्थः ।
 अहमवलोकयेय मा न कश्चिदवलोकयत्विति किञ्चिदेवोत्तिष्ठति, एष खलु
 शृगालदर्शनप्रकारः । तथा फेरुर्बन्—फेःकारशब्द कुर्वन्, स्थानतः—
 एकस्मात्स्थानात्, अन्यःस्थानं गच्छन्सन्, स्वान्—शृगालान्, मृगयते—
 अन्वेपयति । वाशितस्थ क्रमेण तिरश्चा शब्दानुसृत्या 'तिरश्चा वाशितं स्तम्'
 इत्यमरः । स्वेषु—स्वकीयेषु, शृगालसमूहे सहसा व्रजति-गच्छतीत्यर्थः ।
 एष खलु शृगालस्वभावः, यत्परस्परं शब्दं कुर्वन्तः शब्दानुसरणेन एक-
 प्रामिलन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अथ सर्वेषामारण्याना संभूय दशा दर्शयति—व्याल इति । व्यालः—
 सर्पः, समूपकः—मूपकेण सहितः, याति । चटकिका—गृहादिष्ववस्थायिनी
 पक्षिणी, श्येनेन अन्विता सती निर्भया याति । स्त्रीणां स्वभावत एव
 भयं भवतीति चटकिकेत्युक्तम् । परं भयदाखेटभयापेक्षया स्वाभाविकमपि
 श्येनमयमल्पमेवेति श्येनान्विता याति । अथवा श्येनस्ततोऽप्यधिकतरभीतः
 प्रतिभातीति तेनान्विता याति, स्वयमयं भीतो न मां मारयिष्यतीति श्येना-
 न्विता गच्छतीति भावः । एवं सर्वत्र तर्जनीभम् । चटकिकेत्यत्र 'उदीचा-
 मानः स्थाने' इति वैकल्पिक इकारः । अहो इत्याक्षर्ये, काकोलूकस्य
 कुलं गोव्याघ्र च, परस्परम्-अन्योन्यमास्कन्दयत्—संमृदनत्, याति ।
 गोव्याघ्रमत्र 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इत्येकवद्भावः । तथा सूर्यकरै-

रावतकृष्णः—

एवं च भवत्प्रतापसमुद्भूजितकिरितरक्षुशार्दूलकण्ठी-
रवभल्लुकुलुलायखड्गिजम्बुकगौघेरशल्यवृककुरङ्गचीनचमूरु-
शम्बरगवयशशादिभिर्भयादितस्ततो भ्रमद्भिः क्रूरहिंस्रकसत्त्वैः
समन्ततो व्याप्तमिवारण्यमिदानीं संपद्यते ।

स्तप्तः—धर्माकुलः, शशः—व्याघ्रोदरस्य, अनातपे—छायायां, निपीदति । शशस्य
स्वभाव एवायम्, यदयं गच्छन्सन्स्वल्पामपि छायामवलोक्य तत्रैव निपी-
दति । सर्वे—पक्षिसरीसृपजङ्गमादयः प्राणभिया—स्वप्राणमयेन, विदिशः—
विद्वद्दिशः, प्रयान्ति गच्छन्ति, शशुं—रिपुं. नो आच्छिन्दते—नैव मारय-
न्तीत्यर्थः । आरण्यकानामत्यन्तभयजनकत्वात्तत्र प्रभावस्य लोकातिश-
यित्वं बोध्यते ॥ २४ ॥

एवं चेति । आरण्यकानां दिग्गामित्वेन तत्र प्रतापेन समुद्भूजितैः,
किरीत्यारम्य शशादिपर्यन्तस्य द्वन्द्वः तत्र किरिः—सूकरः, तरक्षुः—चित्रकः,
चीता इति लोके प्रसिद्धः, शार्दूलः—व्याघ्रः, कण्ठीरवः—स्कन्धदेशे सटा-
युक्तः सिंहः, भल्लुकः—शृच्छः, भालू इति लोके, कुलायः—महिषः,
खड्गी—गण्डकः, गैडा इति लोके, जम्बुकः—शृगालः, गौघेरः—गोह इति
प्रसिद्धः पुंजातीयः सरीसृपः, शल्यः—सूनाकारलोमा स्याह इति लोके
प्रसिद्धः, वृकः—क्षुद्रगदंभसमकायः अजामत्तकः भेडहा भेडिया वेति लोके
प्रसिद्धः, कुरङ्गः—मृगः, चीनः—अजासदृशो हरिणविशेषः, घोड इति
लोके, चमूरुः—चित्रकविन्दुयुक्तो हरिणविशेषः, शम्बरः—कृष्णवर्णो हरिणः,
गवयो—गोसदृशो गलकम्बलरहितः पशुः, शशः प्रसिद्धः । अन्यत्सुगमम् ।

अथ प्रतापनिश्चयमाह—तर्हीत्यादि । यदि हिंस्रकसत्त्वैर्व्याप्तमरण्य-
मस्ति, तर्हि क्रूराः—दुष्टस्वभावाः ये वृकभल्लूकादयः, तथा हिंस्रकाः—
हिंस्रशीलाः, ये व्याघ्रादय आरण्यकास्तेषां, संशोधनाय—मारणार्थं,
पुनरपि यतिनव्यम्, यद्यपि पूर्वं संशोधितं परं नाद्यापि सर्वथा शुद्धं
प्राप्तमिति पुनरपि संशोधने यत्नः कर्तव्यः । एतेनास्य स्वभावे धैर्य-
मवगम्यते ।

प्रतापः—तर्हि क्रूरहिंस्रकसत्त्वानां संशोधनाय पुनरस्माभिः
प्रयतितव्यम् ।

सालुम्बशक्तिप्रभृतयः—अवश्यमेव । सालुम्बः शृणु घुर्घुरायमाणः
कोल इत एव आगच्छतीव ।

प्रतापशक्ती—साधु साधु, अस्माभिरप्यवगम्यते ।

अत्रान्तरे घुर्घुरघोररावी

कोलः समुद्वेजितवीरवर्गः ।

अरण्यगो मर्मरपर्णशब्दात्

प्रतापशक्त्योरथ लक्ष्यगोऽभूत् ॥ २५ ॥

प्रतापः—आकर्णमाकृष्य निशातबाणं

क्षिप्नोति कोले सहसा निहन्तुम् ।

अलक्षितः सन्स विभिद्य लक्ष्यं

जगाम भूमौ न च लक्षितोऽभूत् ॥ २६ ॥

अथ तत्रागत वराहं वषांयति—अत्रान्तर इति । अत्रान्तरे—
अस्मिन्नवसरे, घुर्घुर इति, घोरं—मयंकर, रवितुं शीलमस्येति घुर्घुरघोर-
रावी, सम्यक् प्रकारेण उद्वेजितः, वीरवर्गः वीरसमूहः येन स तथा ।
कोलः—वराहः, शतशोऽश्वान् जङ्घान्तरे विदीर्य, एष खलु वराहस्व-
भावः, यदयं जङ्घान्तरे प्रविश्य अश्वानामण्डकोशं विदारयतीति,
तत्कृत्वा । अथ प्रतापशक्त्योः—प्रतापसिंहशक्तिसिंहयोः 'भ्रातृज्यायसः'
इति प्रतापेत्यस्य पूर्वनिपातः । लक्ष्यगो लक्ष्यविषयोऽभूत् । प्रतापशक्तिभ्या
युगपद् दृष्ट इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ वराहदर्शनानन्तरं तयोः कृत्यमाह—

आकर्णामिति । प्रतापः, निशातबाणं—तीक्ष्णबाणम्, आकर्णं कर्ण-
पर्यन्तम्, आकृष्य सहसा कोले क्षिप्नोति, बाणेन वराहं जघानेत्यर्थः । अत्र
आकर्णमाकर्षणेन वेगातिशयित्वं निशातत्वेन अप्रतिहतशक्तितया अन्तर्या-

(शक्तिरपि कोलं लक्ष्यं विद्याय वाणं मुञ्चति ।

स तु प्रतापवाणमार्गोणैव निर्गतः

कोलः घोरशब्दं विधाय मृतः ।)

प्रतापः—(अरण्ये गत्वा मृतं कोलमवलोक्य स्ववाणमन्विष्यन्
तमप्राप्य शक्तिवाणमुत्थापयति ।)

शक्तिः—राजन् मया निहतः किरिः, मदीयोऽयं शरः इति मा
प्रहीः ।

प्रतापः—नहि २ मयैव किरिर्निहतः मौनमास्ताम् ।

मित्त्वं सूच्यते । सः वाणः प्रक्षेपसमनन्तरमेव अलक्षितः सन्, [लक्ष-
वराहरूपं शरव्यं, विभिद्य तन्प्रान्तः प्रविश्य, भूमौ जगाम, तदनन्तरमपि
न च लक्षितोऽमृत, भूमावपि प्रविशन् नैव लक्षितो जात इत्यर्थः ।
वराहं विभिद्य भूमावन्तः प्रविष्ट इति तात्पर्यार्थः । एतेन लोकातिशय
बलवत्त्वं प्रतापस्य व्यज्यन्ते ॥२६॥

अथ वराहतनोः प्रतापवाणनिःसरणानन्तरमाह—शक्तिःसिंहोऽपि
शरं मुञ्चति । येन मार्गेण प्रतापस्य शरो निःसृतस्तेनैव मार्गेण
यिनिर्गतोऽमृत सहिर्विनिःसृतोऽमृत । स लक्षितोऽपि, सहिर्निस्सरणसमये
निःसरणानन्तरं च सर्वदृष्ट इत्यर्थः । एतेन प्रतापबलापेक्षयाऽस्य स्वल्प-
बलवत्त्वं सूचितं भवति, यतो हि प्रतापशरो वराहं विभिद्य निर्गतोऽलक्षि-
तश्च । शक्तिःशरस्तु वराहशरीरमविभिद्य प्रतापशरनिर्मितमार्गोणैव निस्सृतो
न भूमौ प्रविशेत्, किन्तु सहिः पतितः, सर्वलक्षितश्च । अत एव वास्त-
विकेऽपि प्रतापकृतविषाते प्रमाणाभावात्, अवास्तविके शक्तिकृतविषाते
प्रमाणोरलक्ष्येः 'मया प्रतापेन अयं हतः, नात्र त्वदुक्तौ किमपि प्रमाणात्'
'मया शक्तिःसिंहेन अयं हतः' एवं तयोः प्रतारशक्तिःसिंहयोर्विवादः-
कलहः, अयासीत् । इति विरोधे शीघ्रम् ।

ततस्संकरुणं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) वसुंधरे ! केयं ते
वरा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।

वसुधे हा निगडिता नीचानां मा वशं गमः ॥२६॥

अथ विवादस्य भयंकरताबीजं दर्शयति—आवयोरिति । तव च
मम चेति । 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छ्लिष्यते' इत्येकवद्भावः ।
आवयोः खड्गः—खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वय-
मेव, निर्णयं—केन वराहो हत इति निश्चयम्—विधास्यति । अत्र निर्णये
यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिवराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव
शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति
तात्पर्यार्थः ॥२७॥

शक्तिसिंहोऽधीत्यादि सर्वं सुगमम् । युद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—
पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति ।
शक्तिरहितः—प्रतापस्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव नाशो भविष्यतीति
शक्तिसिंहरहितः, अथवा—भ्रातृमारणेन ८ प्रभावोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संबोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ
विरमताम्, जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा
युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव निघुप्य उभावनतरा
समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्ती स्वस्वसंरम्भान्न विरतौ, तदा
पुरोहितो रामगुरुः पर्यतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं
भित्त्वा क्षणेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमौ लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृती
मुमुषु किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजा
सु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ
द्वापि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतापः जेतुं श्लेच्छाधिपतिमकबरं विजेतु न प्रमविष्यति—
न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे वसुधे ! सर्वसृष्टिसम्पूर्णं ?
त्वं निगडिता-परायत्तत्वेन पदयोर्द्वौ सती, नीचाना यवनजातीयाना
वश, मा गमः-न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मपातीद्देश्यं भावयति । युवयोर्जीवतोः, देशः-
अस्माकं मातृभूमिर्मेवाङ्कः, दास्यं दासता नोपगच्छेत् । देशस्वातन्त्र्य-
रक्षणार्थं आत्मोत्सर्गः-आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सर्वं देश-
रक्षणार्थं मया प्राणत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-
स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याग्या इति तदाशयः । अन्यत्सर्वं मुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह— सः-रामगुरुः, पर्यतोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य
क्षणेन-क्षणाग्रेण, स्वं-स्वकीयं हृदयं भित्त्वा विदोयं तयोः-पूर्वोक्तयो-
र्भाशोः-प्रतापशक्तिरहितयोः, रक्षकं, देशस्योपकृती-देशोपकारार्थं तदीय-
त्वार्यं-देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राणत्यागरूपं रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा,
प्रभानु-प्रभामध्ये, देशरक्षणे-मातृभूमिरक्षाया लोकातिशायित्वादननिर्वचनीयं

शक्तिः—(सगर्वं साभिमानं च) नहि २ मया हतोऽयम् ।

प्रतापः—आवयोर्निर्णयं खड्गः स्वयमेव विधास्यति ।

जयो यस्य भवेदत्र तेनैव निहतः किरिः ॥ २७ ॥

शक्तिः—आगच्छ ते गर्वं चूर्णयामि ।

पुरो०—‘नैतद् युक्तम्, मैवं विदध्याः, भ्रात्रोः संप्रामो नैवोचितः,
इति वदत्स्वेव पुरोहितादिषु द्वावपि प्रतापशक्ती स्वस्व-
कुन्तौ समुत्थाप्य योद्धुं सन्नद्धौ ।

(ततः क्रोधास्फुरिताधरोष्ठौ आरक्तविशालविस्फारित-
नयनौ अकारणप्रलयकालसमुद्रसमभयंकरनिनादौ अ-
न्योन्यमाक्रमितुं हन्तुं च प्रवृत्तौ ।)

(ततस्तकरुणं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) वसुंधरे ! केयं ते
दशा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।

वसुषे हा निगडिता नीचानां मा वशं गमः ॥२८॥

अथ विवादस्य भयंकरताबीजं दर्शयति—आवयोरिति । तव च
मम चेति । ‘त्यदादीना मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छ्लिष्यते’ इत्येकवद्धावः ।
आवयोः खड्गः—खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वय-
मेव, निर्णयं—केन वराहो हत इति निश्चयम्—विधास्यति । अत्र निर्णये
यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिर्वराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव
शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति
तात्पर्यार्थः ॥२७॥

शक्तिसिंहोऽपीत्यादि सर्वं सुगमम् । युद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—
पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति ।
शक्तिरहितः—अतापर्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव नाशो भविष्यतीति
शक्तिसिंहरहितः, अथवा—भ्रातुर्मारणेन यहकलहतया प्रभावोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संबोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ
विरमताम्, जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा
युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव नियुप्य उभावन्तरा
समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्ती स्वस्वसंरम्भात्न विरतौ, तदा
पुरोहितो रामगुरुः पश्यतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं
भित्त्वा क्षणेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमौ लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृतौ
मुमुक्षुं किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजा
सु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ
द्वावपि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतापः जेतुं श्लेच्छाधिपतिमकवरं विजेतुं न प्रमविध्यति—
न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे वसुधे ! सर्वसमृद्धिसम्पूर्णं !
त्वं निगडिता-परायत्तत्वेन पदयोर्वद्धा सती, नीवानां यवनजातीयानां
यशं, मा यमः-न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मघातोद्देश्यं धावयति । सुवयोर्जीवतोः, देश-
अस्माकं मातृभूमिर्वाङ्गः, दास्यं दासतां नैवोपगच्छेत् । देशस्वातन्त्र्य-
रक्षायाम् आत्मोत्सर्गः-आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सर्वे देश-
रक्षार्थं मया प्राणत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-
स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याज्या इति तदाशयः । अन्तत्सर्वं सुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह— सः-रामगुरुः, पर्यतोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य
क्षणेन-क्षणमात्रेण, स्वं-स्वकीयं हृदयं भित्त्वा-विदीर्य तयोः-पूर्वोक्तयो-
र्भ्रात्रोः-प्रतापशक्तिविहयोः, रक्षकं, देशस्योपकृतौ-देशोपकारार्थं तदीय-
स्वार्ग-देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राणत्यागस्य रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा,
प्रजानु-प्रजामप्ये, देशरक्षणे-मातृभूमिरक्षायां लोकातिशायित्वादननिर्वचनीयं

प्रजा० आः—किमिदं जातम् । इति प्रतापे कथयत्येव रामगुरु-
मुत्थाप्य कर्णरावतकृष्णौ क्वचिन्नीतवन्तौ । प्रतापः शक्ति-
सिंहं संबोध्य ब्रवीति । रे शक्ते ! त्वत्कृत एव इदं जातं,
तस्मात्त्वं मेवाडभूमेरपसर ।

शक्तिसिंहः—(निःश्वस्य साश्रुनयनः सर्वान्तालुम्बादीन्विलोक्य भूमिं
प्रणम्य च ।)

क्षमे ! क्षमस्वैतद्वेहि सूनुः कुक्षौ न जातस्तव दुर्जनोऽयम् ।
मेवाडदेशं यदसौ श्मशानभूमिं विधायैव सुखं मिमीते ॥२६॥

साहसम् अभवत् । तथाभूतं तत्कृत्यमवलोक्य सर्वेऽपि तृणवत्प्राणान-
मन्यन्तेत्यर्थः ॥

त्वत्कृते एवेति । अत्र त्वमेवापराधी । तव लघुत्वाद् गुरुकथ-
नानन्तरमप्यविरामात्, ज्येष्ठस्य ममानादरकरणाच्चेद जातम् ।
तस्मात्तथाभूतस्य पातकिनः पवित्रभूमेरपसरणमेव श्रेय इति तदादिशक्ति-
तस्मात्त्वमित्यादिना ।

अथ शक्तिसिंहोऽपि निःश्वस्येति स्वापराधाभाघं मन्यमानोऽनुचित-
दण्डावगतेः साश्रुनयनः इति सालुम्बादीनां वियोगात्, स्वकीयकृतव्य-
विरुद्धमेवाडध्वंसनिश्चयकरणाच्च ।

अथ शक्तिसिंहः निश्चयं प्रदर्शयति—क्षमे इति । क्षमे—क्षमास्वरूपे,
परमसहनशीले, क्षमस्व—उचितकर्तव्यतापरित्यागेन ममापराधं क्षमस्व ।
अथवा, पक्षान्तरं दर्शयति—त्वमेतद्वेहि-जानीहि । अयं-प्रत्यक्षतया
विद्यमानः, दुर्जनः-खलः, सूनुः-दुष्टपुत्रः, तव कुक्षौ न जातः मातृभूमि-
रक्षणीवीरप्रसवायास्तव कुक्षेर्मादृशस्य देशद्रोहिणो दुष्टपुत्रस्य जन्म न
संभवतीति त्वमेतदधगच्छ, नायं मेवाडभूमेर्जातः । तथावगमने कारुण्य-
माह । यद् यस्मात्कारणाद्, अयं मेवाडदेशं श्मशानतुल्यं विधायैव
सुखं मिमीते । स्वकीयां मातृभूमिं श्मशानतुल्यां कृत्वा सुखमसौ मनुते
इति नैतादृशस्य त्वत्सो जन्म संभवतीति नायं मेवाडभूमेरुत्पन्न
इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पटोन्नयनन्—अकबरः स्थितः

द्वार०—जेदुजेदु देओ । कोवि इंदजालिओ दुआरे ठिओ ।

जयतु जयतु देवः । कोऽपि ऐन्द्रजालिकः द्वारे स्थितः ।

अक०—(विचिन्त्य) ऐन्द्रजालिकवेपेण प्रेषितः मुहम्मदनामाचरः ।

(प्रकाशम्) प्रवेशय । (द्वारपालः तं प्रवेशय निष्क्रान्तः ।)

अक०—ऐन्द्रजालिक रामगुरोर्मरणे शक्तिसिंहनिष्काशनान्तरं कथय ।

ऐन्द्र०—तदनन्तरं स मेवाडं श्मशानं विधास्ये इत्युक्त्वा परावृत्त्य सवेगं तत्स्थानात्प्रचलितः । सकरुणं विलपन्तं प्रतापमवलोक्य सर्वे तदुन्मुखा अभवन्, अहमपि तेषां चक्षुःपि प्रतार्य शक्तिसिंहमनुप्रचलितः ।

अक०—ततस्ततः—

ऐन्द्र०—तदनन्तरमहं वर्त्मनि शक्तिसिंहं समुज्ज्वलयन् प्रोत्साहयंश्च इहानीतवान् । तं च युष्मदीयायतनशालायामुपवेशय अहमिहायातः । मन्ये स स्वयमेव स्वल्पेनैव कालेन समुपस्थास्यते, अतः परं भवन्तः प्रमाणम् ।

अक०—मुहम्मद ! तवैतत्कार्येण अहमतिप्रसन्नोऽस्मि, अतस्त्वां सर्वगुप्तचराणामाधिपत्ये स्थापयामि ।

ऐन्द्र०—अनुगृहीतोऽस्मि ।

आयतनशालायामिति धर्मशालायाम्—यत्र पान्थास्तिष्ठन्ति ।

अन्यत्सुगमम् ।

अथाकबरस्य चिन्तास्वरूपमाह—नाद्यापीति । सः—प्रसिद्धः, कष्टक इवारिः—शत्रुः, मेवाडपतिः—यवनानां मदपाटकत्वान्मदपाटकः, मदपाटक एव प्राकृते मेवाड इति सिद्धयति । सोऽयं लौकिकसंज्ञाबोधको मेवाडस्तस्य पतिः, यवनमदपाटकदेशाधिपतिः प्रतापः, अद्यापि मन्त्रिणता-मदघोषिता, न याति न प्राप्नोति । यावत्सः स्वतन्त्रः सन् मूर्ध्यां विचरेत्ता-

अक०—गच्छ, विश्राममाचर । अहमत्रैव स्थितः शक्तिसिंहं
प्रतीक्षे ।

(इति निष्कान्त ऐन्द्रजालिकधेपधारी मुहम्मदः ।)

(अकबर एकाकी स्थितश्चिन्तयति ।)

(मनसि)

अक०—नाद्यापि मेवाडपतिः प्रतापो

मन्निष्कर्ता याति स कण्टकारिः ।

यावत्स्वतन्त्रो विचरेत्स भूम्या

तावत्कथं स्यान्मम सौख्यगन्धः ॥ ३० ॥

(विचार्य सहर्षमिव)

प्रतापः शक्तिनिर्मुक्तो जेतव्योऽल्पान्मयोद्यमात् ।

मानसिंहो मम पदौ तं ध्रुवं पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

(पुनः किञ्चिद्विमृश्य) परं मानः क्षत्रियपक्षपाती विशेषतो

मेवाडीयेषु बद्धादरः । तैः सह कथमसौ वैरायिष्यते ।

(पुनर्विमृश्य) संभावयामि दक्षिणदेशं विजित्य परावर्त्त-

वन्मम सौख्यगन्धः सौख्यसबन्धः, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्ध-
गर्वयोः' इति विश्वः, कुतः स्वात् । तत्स्वतन्त्रताया मम सौख्यसबन्धस्य
संभावनापि नास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

कथमयं प्रतापो मदधीनता प्राप्स्यतीति विचारयस्तदुपायोपगते. सहर्ष-
मिव कथयति—शक्तीति । मया शक्तिरहित-परित्यक्तशक्तिः सिंहः,
प्रतापः, अल्पादुद्यमात्—स्वल्पादेवोद्योगाज्जेतव्यः । मानसिंहो मम
पदौ तं प्रतापं, ध्रुव-निश्चयेन पातयिष्यति । मानसिंहस्त मदधीनता
प्रापयिष्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

सेनापतिः संदिश्यतामिति । अत्रायं गूढाभिसन्धिः । कदाचि-
च्छक्ति सिंह एकाकिन मामवलोक्य आक्रमेत्, तदाऽयं शूरः साहसिकश्च

मानो मानो मेवाडाधिपतेः प्रतापस्य सविधे तद्रहस्य-
परिज्ञानाय मया सह सम्बन्धयितुं चोन्मार्गेषापि उदय-
पुरं गमिष्यति । तत्र मत्पत्तपातिनं मानं प्रतापो न
संमानयिष्यति । मन्ये तेन मानस्तत्रासंतुष्टः स्यात् ।

(पुनः सखेदम्) काश्मीराङ्गकलिङ्गवङ्गमरुभृत्सौराष्ट्रकर्णाटका
मत्स्यः केरलकेकयान्ध्रमगधाः पाञ्चालगान्धारकौ ।
भद्रः कोशलकच्छुर्गुर्जरभुजाः सौवीरसिन्धुव्रजाः
एते मे वशगाः परं लघुतमो नाद्यापि मेवाडकः ॥ ३२ ॥

अस्तु—जितः कर्णाटको येन स मानः साभिमानिकः ।

ध्रुवं संमानतः स्वल्पान्मेवाडं नाशयिष्यति ॥ ३३ ॥

आगराख्यस्वराजधान्या स्थितस्य अकबरस्य चिन्तां प्रदर्शयति—
काश्मीरेति । काश्मीरः प्रसिद्धः, अङ्गः—विहारप्रदेशान्तर्गतः, कलिङ्गः—
वङ्गालप्रान्तीयो देशः, वङ्गः—वङ्गालः, मरुभृत्—मरुघरः, सौराष्ट्रः—सोम-
नाथ-महादेवस्थितिप्रान्तीयो देशः, काठियावाडः । कर्णाटकः—प्रसिद्धः,
मत्स्यः—धवलपुरप्रान्तीयो देशः, केरलः मलानारः । केकयः—काश्मीर-
चम्पामध्यवर्ती पर्वतप्रदेशस्थितो देशः । अत्रत्यैव कैकयीति वाल्मीका-
दावस्ति । आन्ध्रः—स्वनामप्रसिद्धः, मगधः—भोजपुरप्रान्तीयः, पाञ्चालः
कान्यकुब्जो देशः, गान्धारः—रान्घारेति नाम्ना प्रसिद्ध इत्येके, जम्बू-
प्रान्तीय इत्यन्ये । भद्रः—माँझा इत्येके, चम्वा इत्यररे । कोशलः—
अयोध्याप्रान्तस्थितः, कच्छुर्गुर्जरभुजाः—स्वस्वनाम्ना प्रसिद्धाः, सौवीरः—
मारवाडमेवाहयोर्मध्यस्थितो देशः । सिन्धुः—सिन्धुनाम्ना प्रसिद्धः व्रजाः—
मथुराप्रान्तीयः एते मे वशगाः ममाशानुगामिनः, परं लघुतमः स्वल्पः
कुत्सितो मेवाडो मेवाडकः, 'कुत्सिते' इत्यनेन, सशायां कन् इत्यनेन
वा कन् । अद्यापि न वशगः । विमक्तिविपरिणामेन योज्यम् । बृहत्तमाना
देशानामात्मवशगामित्वेऽपि स्वल्पस्य मेवाडस्य स्वतन्त्रत्वान्चिन्तातिशयो
द्योत्यते ॥ ३२ ॥

अथ पुनस्तदुपायलाभान्चिन्तां निरास्यत्—जित इति । येन

(पुनर्विचिन्त्य)

आः ! दुर्जयः प्रतापः । तदीयसैनिका अपि स्वस्वभुज-
दण्डखण्ड्यमानासंख्यतरक्षुभल्लूकपञ्चाननसूकराः परम-
साहसशौर्याखवेदपेंसंपन्नाः स्वभूमिरक्षणदृढव्रताः सन्ति ।
जीवत्सु तेषु कथमसौ जय्यः ।

(अत्रान्तरे प्रविशति दौवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ।

दौवा०—मेवाडओ आयाओ सत्तिसीहो छन्तिओ दुवारि

मेघाडत आयातः शक्तिसिंहनामा क्षत्रियो द्वारि

चिट्ठइ ।

तिष्ठति ।

अक०—दौवारिक !

संदिश्यताम् सेनापतिः “मन्नियोगाद् बहुमानपुरस्सरमेनं
प्रवेशयतु ।”

दौवा०—जं देवो आणवेदि ।

यद् देव आज्ञापयति । (इत्युक्त्वा सेनापतिं संदेष्टुं गच्छति ।)

अस्मत्सेनापतिना, कर्णाटकी देशो जितः सः, अभिमानेन सह चरतीति
सामिमानिकः—अत्यधिकाभिमानयुक्तः । एतेन अस्मद्गूढाभिसन्धिषशात्
कर्णाटकविजयानन्तरं मेवाडं गच्छन्मानोऽपमानितो भविष्यतीति सामि-
मानिकत्वेन स्वत एव वैरायिष्यत इति सूचितं भवति । मानःमानसिद्धः,
ध्रुवं सप्त्यात्संमानतः मेवाडं-मेवाडदेशाधिपतिं, नाशयिष्यति । तन्नाशात्
प्राधिपत्यमस्माकं भविष्यतीति, भावः ॥ ३३ ॥

दुजेय इति । ‘ईयद्दुःसुपु०’ इति खल्ल् । स्वस्वभुजदण्डेन खण्ड्य-

मानत्वात् परमसाहसिकत्वं सूच्यते । स्वभूमिरक्षणदृढव्रतत्वेन उपायान्तरा-
भावः सूचितो भवति । जय्य इति । ‘जय्यजय्यौ शक्याथे’ इत्ययादेशः ।

(ततः प्रविशति सेनापतिरहितः शक्तिरहितः ।)

शक्ति०—

प्रोद्यद्दृष्टान्धकाराधिकृतसदसदज्ञानमूढान्तरात्मा

मिथ्याहंकारफल्गूकृतनिखिलजगद्बीरशौर्यप्रपञ्चः ।

नीचानामाश्रयाद् यो व्रजति गिरिमहीं भीतभीतः प्रताप-

स्तदेशध्वंसमिच्छन् वदति भगवतो वन्दकीं शक्तिरहितः ३४ ॥

अक०—कस्मादयं प्रकोपः ?

शक्ति०—(सक्रोधम्) आः ! मया निपातितो वराहस्तमात्म-

कृतं मन्यमानः प्रतापो बहुभिर्वहुशो बोधितोऽपि

नामन्यत, प्रत्युत मयैव सह योद्धुमारभत । परन्तु

यदि रामगुरुरन्तरा स्वात्मत्यागेन नागमिष्यत्तदा

स मृत एवाभविष्यत्, मन्ये तद्द्वैवमेव एनमरक्षयत् ।

अथ शक्तिरहितः स्वाभिप्रायं दर्शयन् यवनप्रथानुरूपा भगवतो वन्दना-

भाह—प्रोद्यदिति । प्रोद्यदतिशयेन विवर्धमानो यो दयोंऽभिमानः स एव

अन्धकारस्तेन अधिकृतं स्वायत्तीकृतं यत्सदसद्विषयकमज्ञानं तेन मूढः

सर्वथा ज्ञानशून्योऽन्तरात्मा यस्य स तथा । मिथ्याहकारेण-पुरुषार्थरहित-

वृथाभिमानेन, फल्गूकृतः—असत्तया दर्शितो निखिलजगद्बीराणां-समस्त-

सांसारिकशूराणां, शौर्यप्रपञ्चः—पराक्रमविस्तारो येन सः । मिथ्याभिमान-

तया स्वसदृशं कमपि नायं मन्यत इति भावः । तथा यः प्रतापः नीचानां

मिथ्याभिमानादीनामाश्रयात्-तेषां साहाय्यात्, भीतभीतः—अतिभीतः सन्,

पवंतमही—कन्दरामधित्यका च व्रजति तदाश्रयतया तत्र तिष्ठतीत्यर्थः,

तदेशध्वंसमिच्छन्-तस्य प्रतापस्य देशं नाशयितुमिच्छन्, शक्तिरहितो भग-

वतो वन्दकीं वदति । वन्दकीमिति 'संशयाम्' इति ण्युल् । यद्वा—'पर्याया-

र्हणोत्पत्तिषु ण्युल्' इत्यनेन ण्युल्, गौरादेराकृतिगणत्वात् गौरादित्वात्

टोप् ॥ ३४ ॥

कस्मादयमित्यादि सर्वं सुगमम् ।

अकथरः किमयमस्य द्वेषो वास्तविकः किं वा कृत्रिम इति मनसि विचार-

यन्निश्चिनोति-आरक्तेति । आ-समन्ताद्, रकं-रक्तवर्णं, नेत्रयुगलं-नेत्रयुगलं,

अक०—एवमेवैतत् । अस्तु । अतः परं किमभीप्सितम् ।

शक्ति०—समूलं मेवाडदेशमुन्मूलयितुमिच्छामि । अत किञ्चित्-
त्सेनासाहाय्य प्रार्थये ।

अक०—(मनसि) ।

आरक्तनेत्रयुगल स्फुरिताधरोष्ठो

रोपप्रकम्पिततनुर्ज्वलदुक्तियुक्तिः ।

जीर्णोऽपि तत्कथनतो नवभासमानो

द्वेषोऽस्य तन्निहनने परिशुद्ध एव ॥ ३५ ॥

(प्रकाशम्)

लंकाभिवाह मेवाडं जित्वा गर्वसमुद्धतम् ।

अभिपेक्ष्यामि तत्र त्वा यथा रामो विभीषणम् ॥ ३६ ॥

परतु यावन्मानसिहो दक्षिणदेशं विजित्यायाति तावत्प्रती
क्षस्व । तदागमनानन्तरमेव —

यस्मिन्स तथा । स्फुरित ईपत्स्पन्दितोऽधरोष्ठो यस्मिन्स , रोपेण प्रकम्पिता
तनु शरीर यस्मिन् , ज्वलन्ती क्रोधावेशवशादुद्भटा, उक्तियुक्ति कथन-
परिपाटी यस्मिन्स तथा, जीर्णोऽपि कालान्तरतया परिक्षीणोऽपि, द्वेषस्वभाव
एवायम् यत्कालान्तरेण स्वतः परिक्षीयते, तत्कथनतः तदित्यस्य कथनेन
सह कर्मधारयः । तथाभूतकथनेन नवभासमानः नव इव प्रकाशमान , क्रोध
स्याधिक्याज्ञाद्यापि जीर्ण इति भाव । पृथोत्पुरुषे तु कृत्रिमता प्रतीयेत ।
तस्य प्रतापस्य, निहनने-मारणे, अस्य-शक्तिसिंहस्य, द्वेष परिशुद्ध एव ।
सर्वथा वास्तविक एव विद्वेषो नात्र कृत्रिमताया लेशोऽपीत्यर्थ ॥ ३५ ॥

अथ शक्तिसिंहमुद्दिश्य अकबर कथयति—लंकामिति । स्वगर्वात-
शय बोधयति । अहमकबरः गर्वसमुद्धतम्-अभिमानीद्वत्युक्त मेवाड लका
मिव जित्वा जय एवात्र साधारणधर्मा लकामेवाडया , ततो गर्वसमुद्धत-
मिति लंकाया न विशेषणम् । तत्र मेवाडे त्वामभिपेक्ष्यामि, यथा रामो
विभीषणमभ्यपिञ्चदित्यर्थ । एतेन विभीषण इव त्वमपि मम साहाय्य
तन्नेदस्फोटनं च कुर्वति तत्तात्पर्यार्थ ॥ ३६ ॥

अस्मदन्तावलघनघटाऽऽच्छाद्यमानप्रतापः

स्फारस्फूर्जन्सघनविचरत्सैन्यगर्जन्निनादः ।

विभ्राजिष्णुप्रचुरविलसद्बाणवृष्टिप्रसारो

मेवाढे मे भवतु जलदः संगरः सैनिकानाम् ॥ ३७ ॥

अथाकबरः शक्तिसिंहस्योत्साहं वर्धयन्कथयति—अस्मदिति ।
 अस्माकं ये दन्तावला हस्तिनस्ते घनघटा इव-मेघपटलतुल्याः, हस्तिन'
 बहुतरत्वेन श्यामताधिक्यात्, तैः आच्छाद्यमानः प्रतापः-प्रतापसिंहो यत्र,
 यदा प्रतापः-प्रभावो यत्र 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्।
 इत्यमरः । यत्रास्मदन्तावलैः प्रतापप्रभाव आच्छादितो भविष्यतीत्यर्थः -
 पक्षे-अस्मदन्तावला इव या घनघटाः मेघमालास्ताभिराच्छादितः प्रतापो।
 सतापो यत्र सः । तथा-स्फारः-भूयिष्ठः 'पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फार भूरि च'
 इत्यमरः । स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषतुल्यः सघनः सशब्दः, विचरत्सैन्याना गर्ज-
 निनादः क्ष्वेदा शब्दो यत्र । पक्षे स्फारः-भूयिष्ठः, स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषरूपः,
 सघनो-मेघसहित विचरत्सैन्यानामिव गर्जनिनादो मेघध्वनिर्यत्र । गर्जश्वासः
 निनादः, गर्जघातोः शब्दमात्रवाचकत्वेऽपि मेघशब्दे एव बाहुल्येनोपगं-
 मात् । पूर्वत्र शब्दमात्रपरत्वादवगन्तव्यम् । तथा-विभ्राजिष्णुः-शोभमानः
 प्रचुरविलसत्स्वर्ण-रजतादिपुङ्खतया देदीप्यमानः, बाणवृष्टिप्रसारः-बाण-
 वर्षणविस्तारः यत्र । पक्षे-विभ्राजिष्णुः प्रचुर विलसन् बाणानामिव वृष्टे-
 प्रसारो यत्र । तथा जलदः-जल द्यति खण्डयतीति जलदः-जलच्छेदकः,
 पञ्चमाङ्गगतकोमलभीरुवर्षते जले विपप्रक्षेपेण करिष्यमाण जलच्छेदन
 पताकारूपेण सूच्यते । अथवा-इलयोः सावर्ण्यात् जडदः-जडदाता ।
 समस्तवीराणां हननात् अवशिष्टानां युद्धादिकलाशून्यानां मूर्खाणां दाता
 पक्षे-जलदः-जलैर्भूमिप्लावकत्वान्मेघकण्टकः मे-मम, सैनिकानां सगरः-
 सप्रामो मेवाढे भवतु । अत्र 'सैनिकानां जलदः' मर्यादान्तर दीपमानस्य
 जलस्य दातेति सर्वेषां सैनिकानां मर्यादाजलदः सगरो भवतु इत्यर्थान-
 वगतेर्भाविफलबोधकः प्रतापविजयः सूच्यते ॥ ३७ ॥

(सेनापतेरभिमुखम्) सेनापते ! त्वमेनमार्यक्षत्रियाणां सैन्या-
धिपत्ये स्थापय । तावदयं सर्वान् तान् सज्जीकरोतु ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति भवान् । (इति गन्तुमिच्छति ।)

अक०—तिष्ठ तावत् । शक्ते ! तुभ्यं कान्धारप्रदेशः प्रदीयते ।
तस्मान्त्वयाऽस्मदीयसामन्तश्रेणिमधितिष्ठता यथारुचि
मदीयगोष्ठयामागन्तव्यम् । किञ्च मानसिंहचालिता
मदीया सर्वाऽपि आर्यक्षत्रियसेना त्वदायत्तैव ।

शक्ति०—अनुगृहीतोऽस्मि ।

(ततो निष्कान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके द्वितीयोऽङ्कः ।

शक्ते ! तुभ्यमिति । तावत्त्वां कान्धारदेशाधिपतिं करोमि इति तद्देशा-
धिपत्याद् यथारुचि मदीयगोष्ठयामागन्तव्यमिति सामोक्तेश्च 'संग्रहः साम-
दानोक्तिः' इति लक्षणात्संग्रहाख्यरुन्धिर्दर्शितो भवति ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायसव्येत्तन्त्रस्वतन्त्रविद्यावारिधि-परिष्ठितमथुराप्रसाद-
कृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां बन्धुवैरनामको
द्वितीयोऽङ्कः ।

तृतीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(रामगुरुवियोगादत्यन्तदुःखोद्विग्नः पुष्पवाटिकायां मन्त्रिसहितः
स्थितः प्रतापश्चिन्तयति)

प्रतापः—मन्त्रिन् ! रामगुरुरत्यन्तमस्माकं शुभचिन्तक आसीत् ।
नये कविर्बुद्धिचरेषु वाक्प्रति-
विपत्प्रतीकारविधौ सदाशिवः ।

तपःसु नारायणतुल्यतामितः

क्व मे स रामः स्थितिपालनक्षमः ॥ १ ॥

(तनस्तत्रैव प्रविशन्ति सालुम्बरावतकृष्णादयः । 'जय एकलिङ्गेश्वरस्य'
इत्युक्त्वा सर्वे भूमौ एव उरविशन्ति ।)

अथ रामगुरोर्मरणानन्तरं तद्वियोगादत्यन्तदुःखेनोद्विग्नः प्रतापः
पुष्पवाटिकायामुपवने यत्र दुःखदशायां मनः प्रसादार्यं गच्छति तत्र मन्त्रि-
सहितः, प्रधानमन्त्रिसमन्वितः स्थितः सन् चिन्तयति । गुरुरेव राज्यप्रदाता,
अयं देशोपकारार्थं मृत इति किमस्यापकृतये कर्तव्यमिति विचारयति ।

अथ तद्गुणस्मरणद्वारा तमनुचिन्तयति—नये इति । नये—नीति-
विषये, कविः—शुक्रानार्यः, शुक्राचार्यस्य नीतिविषये प्रसिद्धिः, बुद्धिचरेषु
मध्ये वाक्प्रतिः, साक्षाद्बृहस्पतिरेवेत्यर्थः, तथा विपदामारत्तीनां प्रतीकार-
विधौ—तन्नित्तितत्परतायां, सदाशिवः—साक्षान्महादेव एव । तपःसु—तप-
श्चर्यासु नारायणतुल्यतामितः, बदरिकाश्रमे नारायणरूपेण विष्णुना तपो-
ऽकारोति प्रसिद्धम् । पूर्वव्रामेदेन प्रतिपादनम्, इह तु सादृश्येनेति । तत
इदं बोध्यते, न तथा तपसि नारायणसदृशो गुरुरस्ति यथाऽन्यकार्येषु । सः
स्थितिपालनक्षमः—मर्यादापालनसमर्थः, मे-मम, रामः—रामार्षो गुरुः क ।
तस्येदानो नाशान्न जाने स कुत्रास्तीति तत्स्थितेरप्यज्ञानात्तत्प्राप्तेस्सर्वथा
ऽसंभव एव । तेन निर्वेदातिशयो व्यज्यते ॥ १ ॥

प्रता०—मन्त्रिन् ! गुरोः शुभाध्यवसायकृते इह स्मारकं चत्वरमार-
चय, तत्पुत्रश्च तत्स्थाने विधीयताम् ।

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः । (इति दौवारिकेण गुरु-
पुत्रमाह्वयति ।)

(ततः प्रविशति दौवारिकेण सह गुरुपुत्रः ।)

(सर्वे प्रणमन्ति ।)

गुरुपुत्रः—विजयन्तां भवन्तः ।

मन्त्री—प्रतापो भवन्त गुरुपदे स्थापयति ।

प्रता०—भो गुरुपुत्र ! राजाज्ञया अद्य प्रभृति गुरोः स्थाने क्रियते ।

गुरुपुत्रः—संपत्तिसंप्राप्तिविधौ सुसाधू

राजत्कलानाथरुची रणेपु ।

जय इति । एकलिङ्गेश्वरस्थ शिवस्योपासकत्वात्तस्यैव जयं कथयन्ति-
जयः सर्वोत्कृष्टतया स्थितिरस्तु । दुःखातिशयाद् भूमौ एव । चत्वर-
मारचय । एतेन प्रतापस्य कृतज्ञता व्यज्यते ।

रामगुरोः कार्यस्य प्रत्युपकार तत्पुत्रे दर्शयति—तत्पुत्रायेति । तस्य
रामगुरोः पुत्रः सकलकर्मकारणदादिप्रक्रियाया तस्यैव स्थाने विधीयताम्,
तत्स्थानापन्नतया अयमुपवेश्यताम् । अयं सर्वकार्येषु च आचार्यः स्यात् ।
अयमेव पूजनादिसर्वकार्याणामधिष्ठाता भवतु । तथा देशोन्नत्यै धर्म-
कार्याणि-अनुष्ठानदेवाचंनानादीनि, विदध्यात् ।

अथ मन्त्री प्रतापाज्ञां भावयितुं गुरुपुत्रमाह्वयति । अन्यत्सुगमम् ।

संपत्तीति स्त्रियामेकवचनेन, पुंस्त्वि एकवचनद्विवचनाभ्यां शब्द-
चित्रता दर्शयन्नाह—संपत्तीति । सवत्तेः संप्राप्तिविधौ सुसाधुः, राज-
दित्यस्योत्तरत्वात् 'रोरि' इति लोपे 'दुलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽप्यः' इति दीर्घे
सिद्धयति । द्विवचने षडोर्विशेषणो सुसाधू इति । तथा रणेपु—संग्रामेषु,
राजन्ती-देदीप्यमाना कान्तियुक्तत्वात् कलानाथस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः,
यस्य, ययोर्वा हरेर्मूर्तिः शरीरं, वाग्निचयः-वाचां समूहः, शब्दतोऽयं तश्च

मूर्तिर्हरेर्वाग्निचय पदौ च

प्रताप ! सौख्यं भवतो विघत्ताम् ॥ २ ॥

(इत्याशिष पुष्पाणि ददाति ।)

सालुम्बः—महाराज ! गुरुपुत्रः पण्डितप्रवर. कविवररच ।

प्रता०—अत एव गुरुपदे स्थाप्यते ।

(ततः प्रविशति मानवृत्तपरिणामाय प्रेषितः प्रतापानुचर. ।)

(दूरतः प्रताप विलोक्य ।)

अनुचरः—सिन्दूरारुणनेत्रकान्तिरुचिर प्राभातिकेन्दुद्युति—

देहे किञ्चिदसौ दधत् शिथिलतां भूमामुपेक्षास्थितः ।

मन्दं मन्दमिव ब्रवीति किमपि प्रम्लानचेतोऽन्तर-

खिन्नः किन्तु निशाप्रजागरवशात्किंवा शुचासद्गुरो ॥३॥

कलानायकान्तिसादृश्यमत्रावगन्तव्यम्, पदौ च चरणौ च, हे प्रताप भवत सौख्य-सुखपरंपरा, विघत्ताम् । मूर्तिर्वाग्निचय इत्यनयोराकाङ्क्षायामात्मनेपदे एकवचने विघत्ताम् परस्मैपदे द्विवचने च । अत्र शब्द-चित्रत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्वमव्याहृतमिति नावरकाव्यत्वम्, तथा मूर्तिचरणवाचे-त्रिष्वपि समानतया सौर्यविधानमामर्ष्यवर्णनाद्भक्त्यतिशयो व्यज्यते अलङ्कारव्यङ्ग्यादिवर्णन विस्तारभिया न प्रदर्शयते । द्वन्द्वसमासे चान्त-त्वात् टच् ।

पण्डितप्रवर-पण्डितेषु प्रकृष्टो वरः प्रवरः विशिष्टोऽस्ति । अत एवेति । एतेन स्वस्थाहितकारित्वं चोत्थते । मूर्तिचरणवाचे अत्र ।

चवर्गान्तत्वात् टच् समाहार एकवचनं च ।

अनुचर खेदजागरणयोः साधारण्यमवलोक्य तर्कयति—सिन्दूर-रेति । सिन्दूर इव अरण्ये—किञ्चिद्रक्ते, ये नेत्रे तयो कान्त्या-सौन्दर्येण रुचिर-मनोहरः, प्राभातिक-प्रभातकालिको, यद्दन्दु-अन्तरस्तद्वत्-द्युतिर्यस्य, किञ्चित् शुक्लता राजजागरणे शोके च भवति, अथ च देहे-शरीरे, किञ्चित् शिथिलतां दधत्, भूमौ उपेक्षया-उपेक्षाउद्धया,

(इति विचिन्तयन् प्रविशति प्रतापसमोपेऽनुचर)

अनुचरः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय क्वेदानीं मानः ?

अनु०—दक्षिणदेशं विजित्य अभिमानसमुत्पूरितान्तःकरणो भवन्त स्वविभव दर्शयितुमुन्मार्गैरेव उदयपुराभिमुखं प्रचलितः ।

प्रता०—सालुम्ब ! एवमागमने कोऽप्यत्र गूढाभिसन्धि स्यात् ।

सालु०—(किञ्चिद्विमृष्य) मन्ये स्वविभवं भवन्त दर्शयितुं समायाति । अथवा आत्मवद् भवन्तमपि यवनैः सार्द्धं सम्बन्धयितुमभिकाङ्क्षते ।

प्रता०—(घोरासनस्य सन् खड्गमारुपति ।) आः ! क एव मयि स्थिते यत्रनै सार्द्धं मां सम्बन्धयितुं प्रभवति ।

सालु०—एवमेवैतत्, परमयं तस्य गूढाभिसन्धिश्च्यते ।

स्थित । निशाया विचारपरपरयाऽतिजागरणेन आलस्यात् शोकाच्चैव भवति । प्रभ्रान चेतोऽन्तर यस्य स असौ प्रताप, मन्द मन्दम्—अति मन्द किमपि ब्रवीति इव, किमपि कथयतीव । न खल्वगम्यते स्पष्टतया किंकथयति । किन्तु निशाप्रजागरवशात् शक्तिसिंहस्य तथाविधा प्रतिशा विधाय गमनात्मगरस्य अकरपक्षपातितयाऽवस्थानाद्विचारपरपरया रात्रावतिजागरणान् खिन्न । किं वा सद्गुरो—उचितकारितया निष्पन्नस्य राज्यदापयितुर्गुरो, शुचा—शोकेन, खिन्न—दुःखित । अत्र वर्णिताना धर्माणामुभयसाधारण्येन ऊहाप्यो सन्निवर्ष्यन्ते ॥३॥

उन्मार्गैरेवेति । आगरा गतरतस्तस्य गमनमार्गो नाय किन्तु स्वमार्गं परित्यज्य अनेन मार्गैरामञ्छतीत्यर्थः । यद्वा—आर्यमर्यादा परित्यज्य त्वा यवनै सम्बन्धयितुमित्वसदभिलाषयाऽऽगच्छतीति स्यात् । अन्यत्सुगमम् ।

प्रताप सालुम्बोक्तं परमार्थतो मन्यमान खड्गमारुपति—आ क

प्रता०—सर्वथा असंप्राप्तोऽयम् ।

पितुः स्वसुदानवशेन लब्धा मानप्रतिष्ठां शतशो धिगन्तु ।
 म्लेच्छादिसंसर्गविदुष्टपङ्क्तौ किमार्यजातो नृपतिश्च भुङ्क्ते ॥४॥
 रावत० नहि नहि कदाचिदपि कौऽप्यार्यभवस्तत्पङ्क्तौ नैव
 भोक्ष्यते ।

प्रता०—परं मन्ये तेनापमानेन मानो वैरायिष्यते ।

सालु—वैरोत्पादने दोषः कस्येत्यपि विचारणीयम् । स्वयमे-
 वासौ मानः कथं नैव विचारयति ।

प्रता०—‘न बुध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम्’

यद्यपि मानस्यैव दोष इति सर्वथा युक्तं तथापि नासौ विचारयति ।

एवं मयीत्यादि कथयति च । अथ सालुम्बः० ‘तस्य गूढाभिसन्धिमुच्यते न
 तु परमार्थत इदमुच्यते’ इत्यभिप्रायेण प्रतापं सान्त्वयति ।

अथ प्रतापो मानमपाङ्क्तेयं दर्शयति—पितुरिति । पितुः स्वसुम-
 नवान्दासस्य भगिन्या दानवशेन लब्धां-प्राप्ता, मानस्य प्रतिष्ठा-मान-
 महत्त्वे शतशो धिगन्तु । म्लेच्छादीनां संसर्गोऽस्यास्तीति म्लेच्छादि-
 संसर्गां, तेन विदुष्टायां पङ्क्तौ—यवनसंघन्धिविदूषितपङ्क्तौ आर्यजातः—
 आर्योत्पन्नः नृपतिः किं भुङ्क्ते । नैवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ सालुम्बः वैरोत्पादने मानस्यैव दोषं बोधयन् स्वयमेवेत्यादि
 कथयति ।

अथ प्रतापः सालुम्बोक्तं समर्थयन् कथयति—न बुध्यते इति । “इदं
 मया न बुध्यते” इति विवेकोऽपि बुद्धिगम्य एव । स चैवंविधः प्रशारहितो
 पदात्मनः प्रत्यक्षतया स्फुटमपि दोषं न पश्यतात्यर्थः ॥

१ भगवान्दामस्य मानसिद्धः कृत्रिमः पुत्रः । तद्भगिनी चक-
 वराय दत्ता, मानसिद्धभगिनी वेत्यत्र मतभेदः । चस्तुतस्तु दामीपुत्री सेत्यत्र
 न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । एवं च मानसिद्धपितुर्दामीपुत्री सा भगवान्-
 दासस्य दामीपुत्री तद् भगिनी वेति काकदन्तपरीक्षावन्निःसारमेवैतदिति ।

सालुम्बः—शौर्यमदोन्मत्तो भवन्तं भोजनादिसंबन्धेन संबन्ध-
यितुमेव असौ आगच्छति ।

प्रता०—युक्तं संभाव्यते, परंतु—

संबन्धने सकलशास्त्रविरोधचर्चा

त्यागे कृते तु समरः पतितो गले स्यात् ।

(अस्तु) मानो विलोकयतु मे समरे कृपाणं

मानं विहाय यदि नैव पलायतेऽसौ ॥ ५ ॥

(इति खड्ग स्पृशति)

सर्वे—वयं सर्वे सनद्धाः स्मः । यवनानां कृते आत्मजाति-
मास्कन्दत्यसौ, किमनेन शोभनं स्यात्, न खलु वयं
समराद्विभीमः ।

प्रतापः कथयति युक्तमिति । यत्त्वया संभावितं 'भोजनादिसंब-
न्धेन सम्बन्धयितुम्—इति तद् युक्तमेव संभावितम्, अहमप्येवमेव संभाव-
यामि । परमत्र किं करणीयं किं वा न करणीयमिति प्रदर्शयति—संबन्धने
इति । तेन सह भोजनादिसंबन्धस्वीकारे सकलशास्त्राणां विरोधस्य,
चर्चा—विचारणाऽस्ति । सकलशास्त्रेषु तथाभूतस्य भोजनादिसंबन्धे
प्रतिषेधात्सकलशास्त्राणां विरोधः प्रसज्यते, स च दुष्परिहरः । अथ
शास्त्रमर्यादानुकूल्येन त्यागे सहभोजनादिसंबन्धस्य त्यागे कृते तु, समरः-
संग्रामः, गले पतितः स्यात् । अनभिमतोऽपि संग्रामो भविष्यतीति
संभावयामि । एव सति शास्त्रमर्यादात्यागमसहमानः संग्रामं स्वीकरोति-
मानो मानसिद्धो मे मम समरे कृपाणम् अस्मिन् शूराः कथं सुष्यन्ते इत्यादि
विलोकयतु । यद्यसौ मानो मानं स्वाभिमानं विहाय नैव पलायते ।
स्वाभिमानं विहाय पलायने एव मानप्राणरक्षा भविष्यति, अन्यथा
संग्रामे मानो मया हत एव भविष्यतीति भावः । एतेन भाविसंग्रामे
मानस्य प्रतापसंमुखानागमनं सूचितं भवति ।

अथ सर्वे स्वसिद्धान्तं कथयन्ति—'न खलु वयं समराद्विभीमः'
इति । ततोऽभये कारणं प्रदर्शयन्ति च्छ्रियाणामिति । यदि च्छ्रियाणां

क्षत्रियाणां कृते धर्म्यं यदि युद्धमुपागतम् ।

अतः परमभीष्टं किं यत्स्यान्मोक्षपदास्पदम् ॥ ६ ॥

मन्त्री—परमसी अतिथिः, अतो लौकिकव्यवहारेण भोजना-
दिसत्कारः कर्तव्यः । तदीयगूढाभिसन्धिज्ञानानन्तरं
यद्भविष्यति तद् द्रक्ष्यामः । तदनुचरितं चरिष्यामश्च ।

प्रता०—एवमेव भवतु का हानिः ।

(ततः प्रविशति दौवारिकः ।)

दौवा—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—किमस्ति वक्तव्यम् ?

दौवा०—माणागमणवृत्तंतणिवेश्चओ एक्को भोदीओ सेणाओरो

मानागमनवृत्तान्तनिवेदक एको भवदीयः सेनाचरः

पुष्कवाडिआओ दुआरि चिट्ठइ ।

पुष्कवाटिकाया द्वारि तिष्ठति ।

कृते—क्षत्रियमुखप्राप्त्यर्थं धर्म्यं—धर्मादनपेतं धर्मानुगतं शास्त्रमर्यादा-
रक्षणोद्देश्यकमित्यर्थः, युद्धमुपागतं—प्राप्तं, स्यात् अतः परमभीष्टं किमस्ति
यन्मोक्षपदास्पदं मोक्षस्थानं स्यात् । स्वर्गात्तु क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके
विशन्तीति पुनःपुनर्दुःखानि भवन्ति । मोक्षे तु 'न स पुनरावर्तते न स
पुनरावर्तते' इति श्रुतेः सर्वथा दुःखोच्छेदात्सुखमेव । सप्रामे मृतस्य
मोक्षो नियत एव । उक्तं हि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनी ।
परिमाट् यागयुक्तरथे चाभिमुखे हतः ।" मोक्षस्थानं सूर्यमण्डला-
दुपयेवेति ॥ ६ ॥

परमसाधित्यादि सर्वं मुगमम् ।

क्षयायतिष्ठ भोजनानां नीरसत्वान्न तदुपादानं कृतम् । नानाविधैरनेक-
प्रकारैश्चस्करणैः साधनैः शर्कराग्नपूतमरिचादिभिः ये संराद्यमाना मद्य-
क्षयः, तत्र मद्यं घृतादिभ्रष्टं चणकादि'सुद्गद्विदलादि वा, मृदु शुष्कं

प्रता०—प्रवेशय ।

(ततो दीवारिवेण सह प्रविशति सेनाचरः ।)

सेनाचरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय क्वेदानीं मानः ।

सेना०—इयाणि माणसीहो सर्वं पि सेणासंरोहं उदेउरस्त

इदानीं मानसिंहः सर्वमपि सेनासंरोहमुदयपुरस्य ।

दक्खिणभाअम्मि सण्णिवेसिय कइवएहिं सेणासंभावि-

दक्खिणभागे सनिवेश्य कतिपयैः सेनासम्भावि-

अपुरिसेहिं सुईयपासअराणुअरेहिं चेव सह उदेउरं

तंपुरुषैः स्वकीयपाश्वरानुचरैरेव सह उदयपुरं

पविसमाणो भोदीयणिवासगिहाहिमुहं आगच्छइ ।

प्रविशन् भवदीयनिवासगृहाभिमुखमागच्छति ।

प्रता०—मन्त्रिन् ! त्वं कुमारं पुरस्सरीकृत्य बहुमानपुरस्सरं

मानं प्रवेशय । स्नानभोजनादिप्रबन्धं च बहुमल्यमुशो-

भनद्रव्यैर्मधुराम्ललवणकट्वादिरसास्वादितैर्नानाविधोप-

स्करणसंपाद्यमानभक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यचर्व्यादिविविधप-

दार्थजातैर्विधेहि । सह भोजनाय यथासंभावितं व्याजः

प्रदर्शनीयः कुमारोऽपि सहभोजने नैव नियोक्तव्यः ।

सालुम्ब ! त्वमपि तदातिथ्यसत्कारेऽस्य साहाय्यं कुरु ।

अहमपि अन्तर्हितो भूत्वा सर्वं विलोकयिष्ये ।

भोजनाहमित्यर्थः । भोज्यं शकुल्यादिकम्, लेह्यं श्रोत्रहृद्वादिकम्, गुजरदेशे

प्रसिद्धम् । चोष्यमात्रादिकम् । चर्व्यं लपपटकम् । इत्यादिरूपैर्विविध-

पदार्थजातैः अनेकविधपदार्थभेदैर्भोजनप्रबन्ध विधेहि । यथासंभावितम्-

संभावितमनतिक्रम्य । संभावितानुरूपमित्यर्थः ।

काचिद्योगिनीति । अनिर्दिष्टनामा योगिनी । यद्यपि इयं सैव वेश्या

परं तु योगमार्गाश्रयणानन्तरमनिर्दिष्टनामत्वात्काचिद्विस्तुक्तम् । अथ

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः । (इति मन्त्री कुमारसालुम्बाम्या सह निष्क्रान्तः ।)

पटोन्नयनम्

(ततः स्नानपूजनादिसकलकर्मनिवृत्तो भोजनाय आशने उपविष्टः मानः प्रतापागमनं प्रतीक्षते ।)

(ततः किञ्चिद् दूरतः समुपतिष्ठते वीणां वादयन्ती सतालं गायन्ती लोकान्प्रबोधयन्ती काचिद् योगिनी ।)

(तत्समनन्तरमेव प्रविशति नानाविधद्रव्योपेतं राजभोजनभादाय संस्कारः । सूत्रकारो मानस्य सम्मुखं भोजनपानं स्थापयति ।)

(योगिनी गायति ।)

त्यज रे मान कपटमदजालम् । (मानपदध्रवणान्मानः समवदितः शृणोति ।)

भज शिवकरणमीशपदपङ्कजममरशिरोजयमालम् ।

उदितप्रतापतुल्यशुभदर्शनमहिमणिमण्डलशालम् ।

सुभसम्पदापरमपदप्रापकमुखिललोकपरिपालम् ॥

मानसिद्धं प्रतापपद्मानुगमनायोपदिशन्ती प्रतापस्य प्रभावातिशय शिवपद-
साभ्येन व्यञ्जयन्ती गायति ।

त्यज रे इति । रे जीव ! मानस्य-अहंत्वाभिमानस्य, कपटस्य प्रपञ्चस्य, मदस्य-श्रौद्धस्यस्य गर्वस्य वा, जालं, त्यज-मुञ्च । अथ च-मानेति संबोधनम्, हे मान ! कपटमदयोजालं प्रपञ्चं त्यज । तत्त्यागानन्तरं कार्यमुपदिशति-शिवकरणां-कल्याणकारकम्, अमराणां-देवानां, शिरोजयमालम्-शिरसि जयमालरूपेण स्थितम्, अथवा-अमरस्य अमर-सिद्धस्य शिरोजयमालम्, शिरसि जयमानरूपेण स्थितम् । ईशपदपङ्कजं-शम्भुचरणकमलम्, अथवा-ईशस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य प्रतापस्य चरणकमलं भज सेवयेत्यर्थः ।

कथंभूतं चरणकमलमित्याह-उदितेति । उदितो यः प्रतापः सूर्य-स्तेन तुल्यम्, ईशदत्तमित्यर्थः । तथा शुभं-कल्याणकरं दर्शनं यस्य तत्, पुनर्दयोः कर्मधारयः । अथवा-उदितो-वर्धमानो यः प्रतापः-प्रतापसिद्धस्तेन तुल्यं शुभं दर्शनं यस्य । यथा प्रतापस्य दर्शनं शुभकरं तथैव तस्यासौत्यर्थः ।

लसितसुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षोभलम् ।

भवभयहरणमरुणसमशोभितमघचयतपनकरालम् ॥

प्रतिदिनमगपतितनयावन्दितमाशीविपवाचलम् ।

करुणावरुणालयमहिमण्डितमधरितसरसप्रवालम् ॥

अथवा-उदितं-भाषितं यद् प्रताप इति पदं तत्तुल्यतया शुभं-शुभकरं दर्शनं यस्य । यथा प्रतापनाम शुभकरं तथैव प्रतापदर्शनमपीत्यर्थः । तथा अहीनां सर्पाणां मणिमण्डलेन-मणिसमूहेन शालं शोभमानम् । प्रताप-पक्षे-अहिमणीनाम् उत्तमोत्तममणीनां मण्डलेन शालं शोभमानम् एतेन सर्पमणिसत्त्वात् लोकोत्तरसंपत्तिशालित्वं सूचितं भवति । अथवा अहीनां द्विजिह्वानां भवत्सदृशानामित्यर्थः मणिमण्डलो यत्र एवंभूतो यः अकवरस्तं शालयति पीडयति इति । श्लेषेनेयार्थो न दोषावहः । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा सुखस्य सम्पदायाः, परमपदस्य-मोक्षस्य, प्रापकम् । अन्यत्र सुखसंप-दयोर्परमपदमुत्कृष्टस्थानं तस्य प्रापकम् । तथा अखिललोकानां-समस्त-चराचरसंसारिणां, परिपालं-रक्षकम्, अन्यत्र समस्तजनानां रक्षकम् । तथा लसितं शोभितं, सुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षसां मालं मस्तकं येन, सुरादीनां चरणेषु निपतनात्, अन्यत्र-लसितं देदीप्यमानम् तथा सुरासुरयक्षनाग-नरकिन्नररक्षःसु भाभिः अलं शोभमानम्, पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा भवभयहरणं-संसारभयमोचकम् । अन्यत्र भवाः-प्राणिनस्तेभ्यस्तेषां वा यद्भयं तस्य हरणं-हारकम् । 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्' इति युच् । तथा अरुणसमशोभितम्-अरुणसदृशरक्तवर्णम् । उभयत्र समानमेतत् । तथा अघचयस्य-पापसमूहस्य, तपने-संतापने नाशकरण इत्यर्थः, करालं-भयंकरम्, अन्यत्र-अघचयस्य दुष्टप्राणिसमूहस्य, तपने-संतापने, दुष्टानां निग्रहे इत्यर्थः, करालम् । तथा प्रतिदिनम्, अगपतितनया-पार्यत्या, वन्दितम् । अन्यत्र-वर्षतापिपतेः । कस्यचिद्राजः सुतया वन्दित, तत्पति-त्वात् । यद्वा अगपतेः तनयैः भिल्लपुत्रकैः आ समन्तान् वन्दितम् । तथा आशीविपैः-सर्पैः, वाचालं-कुत्सितशब्दयुक्तम् । अन्यत्र मा इति निषेधार्थं मा आशीविपाः-द्विजिह्वाः, पिशुना इत्यर्थः, वाचालाः-कुत्सितभाषिणश्च यत्र तत् । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । करुणावरुणालयं-दयासमुद्रम्, उभयत्र

ब्रह्मादिकसनकादिसकलश्रुपिसेवितमलिकुलकालम् ।

परमसुकृतसमुपागतदर्शनममृतसरोवरनालम् ॥ ७ ॥

मानः—(मनसि) किमियं मामघिक्षिपन्ती कथयति जीवं वा ?

(प्रकाशम्) प्रतापमाह्वय । अपरं च भोजनपात्रं
सज्जीकृत्यानय ।

मन्त्री—(वदन्नाञ्जलिः सन्) महाराज ! प्रतापस्य शिरोवेदनाः
स्तीति अन्तःपुरे शेते ।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तं निवेदय । मानो भोजनासनोपविष्ट-
स्त्वामाह्वयति, आगत्य यथारुचि किञ्चिदपि भुङ्क्षाम् ।

कुमारः—महाराज ! भवान् भुङ्क्षाम् पूज्यचरणा इदानीं शेरते ।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तमुद्बोधय समानय ।

समानमिदम् । अहिमण्डितं-सर्पैः शोभमानम्, अन्यत्र अहिभिः सर्प-
सदृशैः मयंकरैः वीरैर्मण्डितम् । अधरितः—अत्यन्तादृश्येन नम्रीकृतः, सरस-
प्रवालः—आर्द्रविद्रुमो येन तत्, उभयत्र समानम् । तथा ब्रह्मादिभिः—
सनकादिसकलश्रुपिभिश्च सेवितम् । अन्यत्र—ब्रह्मादिकसनकादिसकल-
श्रुपीणां या सेवा, सा संजाता अस्य । तारकादित्वात् इतच् । ब्रह्मादि-
सेवालङ्गनमित्यर्थः । ब्रह्मादिसनकादिसकलश्रुपीणां सेवाकारकम् । तथा
अलिकुलेन—भ्रमरसमूहेन, कालं—श्यामवर्णम् । देवैरानीतानां पुष्पाणा-
मतिशोरमेष समागतैरित्यर्थः । अन्यत्र-रलयोः साम्यात्, अरिकुलस्य-
शत्रुकुलस्य, कालं—नाशकम् । परमसुकृतेन—अत्यन्तपुण्येन, समुपागतं
दर्शनं यस्य तत्, उभयत्र समानम् । अमृतसरोवरस्य—मौलरूपसरोवरस्य,
नालं—परमपवाहस्पानभूतम् । अन्यत्र अमृतम्—अयाचितं यदस्ति तस्य
परसरोवरं-निवासस्थानं तस्य नालम्, अयाचितस्यापि दातारम् । अमृतं
तदेव सरोवरं तत्र नालमिव नालम्, अमृतं स्यादयाचितम् । अत्र
शिवप्रतापयोः शिवचरणधर्माणां साधारण्येन उपमालंकारो व्यज्यते । तेन
शिवसदृशः प्रताप इति तद्वाराधनमवश्यं कर्तव्यमिति तस्या अभिप्रायः ।
अतः कपटं विहाय एतत्पञ्चमाभयस्वेति तदुपदेशः ॥७॥

कुमारः—नाहमुद्धोधयितुं शक्नोमि ।

मानः—कुमार ! त्वं ममानुरोधाद् गत्वा तमुद्धोष्य कथय ।
नासौ मानस्त्वया विना भोक्ष्यते ।

कुमा०—यथाऽऽज्ञापयति भवास्तथा करोमि, परं पूज्यचरणा-
नां शिरोवेदनाऽस्तीति न ते आगमिष्यन्ति ।

मानः—त्वं गच्छ कथय मत्संदेशम् । यथारुचि किञ्चिदपि
मुञ्क्ताम् नाहमन्यथा भोक्ष्ये ।

कुमा०—यथा आज्ञापयति भवान् । (इति निष्क्रान्तः)

मानः—(मनसि) प्रतापस्य भवेदपि शिरोवेदना परं तु कर्ण-
लग्नमल्लादिप्रभृतयो राजवंशीयाः केचिदपि नैव
विलोक्यन्ते । किञ्च सत्यामपि शिरोवेदनायामागत्य
सहोपविश्य किञ्चिद्भोजने का क्षतिः, नूनमयं मां
तिरस्कुरुते । (प्रकाशम् ।)

मन्त्रिन् ! कर्णप्रभृतयोऽपि नैव विलोक्यन्ते ।

मन्त्री—महाराज ! ते सर्वेऽप्यद्य आखेटार्थं गताः ।

मानः—किं मदागमनकारणादेव सर्वेऽपि आखेटार्थं गताः, किं
वा व्याजोऽयम् । (अत्रान्तरे मानसिद्धिपार्वचरः कश्चिद्विशुभः
मानस्य कर्णे एवमेवेति कथयति ।)

सालुग्धः—(अन्यायमवलम्ब्य किञ्चित्क्रुद्धः सन्) किं नाम एवमेव
भवतां मदेन आगमनं साधारणतया वेति भयन्त एव

मदागमनेनेति । मम आगमनं—मदागमनम् तस्य कारणदिति
मानस्याभिप्रायः । मदेन—अभिमानेन, आगमनमित्याभित्य सालुग्धः
कथयति । प्रतापादिस्वच्छातिरहित एकाकी मानो भोजने अनभिसन्नि प्रवृत्त-
यन् कथयति—शोतमिति । शीतं—वा तद्दोषयुक्तम्, नीरसं—मधुगदिरमर-
दितम्, किं बहुना विरसमपि वेत् । विरुद्धरसयुक्तमपि स्यात्, तथा
सैकतं—सिकताममम्, अत्यन्तवासु क्षोपेतम्, अथवा—अरुच्यम्—अरुचिकरं
मनःप्रतिकूलम्, रुद्धं—धृतादिरहितम्, अथवा—अर्द्धरस्यम् अपूर्णरस्यमित्यर्थः ।

जानन्ताम् । वयं तु सौहार्देन भवतामागमनमित्येव
जानीमहे ।

मन्त्री—(मानसिहमुद्दिश्य) महाराज ! भोजनं करोतु भवान्,
शीतीभवत्येतत् ।

मानः—शीतं वा नीरसं वा विरसमपि भवेत्सैकतं वाऽप्यरुच्यं
रूक्षं वाप्यर्द्धपक्वं लवणविरहितं दुष्कृपायत्ययुक्तम् ।
इष्टस्वज्ञातिमध्ये चणककृतमपि स्वाद्यमानं सगोत्रैः
सार्धं तद् भोज्यसौख्यं भवति तदपरं नीचवृत्त्यात्मपूर्तिः
मन्त्रिन् ! कथं कुमारोऽपि नायातः ।

मन्त्री—महाराज ! भवान् भुङ्क्ताम् । स चाप्यागमिष्यति ।
कदाचित्पितुः परिचर्यावशाच्चिरयते ।

(एकाको भोक्तुमनिच्छन्स्वापमानं मन्यमानो मनसि मानश्चिन्तयति ।)

मानः—शाकं नापि बुभुक्षतेऽत्र कुलजश्चैकोऽपि साकं मया,
धिग्मे जीवनमेवमप्यभिमतं संबन्धसत्त्वं च धिक् ।

चणकविरहितम् । तथा दुष्कृपायत्ययुक्तं—दुष्कृपायत्सापेतं चणककृतमपि
तद् भोजनम्, इष्टा अभिमता या स्वज्ञातिस्तस्या मध्ये सगोत्रैः—स्वान्धवा-
दिभिः सार्धं स्वाद्यमानं, शीतादिदुष्टरसयुक्तत्वेऽपि मध्ये २ रहास्यादिना
किञ्चित्किञ्चिद् भुज्यमानं भोज्यसौख्यं भवति, तदपरं चान्धवादिदिरस्कृते-
नैकाकिना मुञ्चमानं नीचवृत्त्याऽऽमूर्तिः, नीचपकारेण जीवनीयायः ।
एतेन न मे अग्नेन विना हृदानो प्राणान्तरुष्टम् । अत इदं भाजनमहं
प्रत्यानागमने सति त्यज्यामीति सूच्यते ॥८॥

किं चिन्तयतीति प्रदर्शयति—शाकमिति । अत्र एकोऽपि, कुलजः-
कुलोः, मया साकं शाकमपि न बुभुक्षते—शाकमपि भाक्तुं नैच्छति, अन्न-
भोजनादेर्वार्ता तु दूरे एव । एवमस्मान्ने सति मे जीवनं धिक्, किमनेन
जीवनेन । अभिमतमपि सम्बन्धसत्त्वं च धिक् । शिशोदियार्थं शोया मे
वान्धवाः सम्बन्धिनी या इति धिक्, न मे चान्धवा नापि संबन्धिन इत्यर्थः ।
अहं तु, अहंमान एव जीवातुर्भावितकालो यस्य स तथा । 'श्रायुर्भावि-

मानोऽहं त्वपमानभाजनमितोऽहं मानजीवातुकः,

स्वरूपैरेव दिनैः फलं फलयिता तापं प्रतापे स्वयम् ॥१॥

(ततः प्रविशति कुमारः)

कुमारः—महाराज ! तातस्तीव्रशिरोवेदनया नैवागन्तुं शक्नोति ।
भवान् भुङ्क्ताम् ।

(मानो भोजनपात्रात्पौदनतण्डुलानादाय उत्तरीये बध्ना चोत्थितः ।)

मानः—प्रकाशम् । साटोपं च ।

जानाम्यस्य शिरोगदं कपटिनो महदृष्टसंघुटना-

त्सोऽस्मद्वीरगणप्रभूतविशिलैर्द्वित्रैर्दिनैः सेत्स्यति ।

तीक्ष्णोदग्रकृपाणकृत्तपृतनास्तीर्णामादारुणं

दृष्ट्वा स्वं विषयं स्वयं प्रशमितः शीघ्र्यो गदो मूलतः ॥१०॥

तकालो ना जीवातुर्जीवनौषधम् इत्यमरः । मानः—माननामा, एतेन स्वस्य
गर्वातिशयो बोध्यते । यद्वा-मानोऽभिमानस्तत्स्वरूपः अपमानभाजनम्—
अपगतं यद् मानं मानेति पदं तस्य भाजनम्, इतः-प्राप्तः । एतेन मानस्य
नाशान्मम नामोच्छेद एव जातः । अथ वा मानः अहमपमानं प्राप्तस्तेन
स्वरूपैः—कतिपयैरेव दिनैः, स्वयमहं प्रतापे तापम् अस्य कर्मणः पश्चात्ताप-
रूपं संतापं फलं, फलयिता-फलयिष्यामि । अस्य कर्मणः फलमहं नेष्या-
मीत्यर्थः ॥ ९ ॥

पञ्चपौदनतण्डुलानिति । भोजनस्यानादरो मा मूर्धिति गृह्णाति ।
अथवा एतत्कृते एवाहमपमानित इति प्रतापपराजयानन्तरं तं दर्शयित्वा-
मुत्तरीये बध्नाति ।

स्वापमानमवगच्छन् कथयति—जानामीति । कपटिनः—भोजनकरणे
कैतवं प्रदर्शयतः, अस्य-प्रतापस्य, शिरोऽगदं—शिरसोऽगदम्-श्रीषघं,
जानामि—अवगच्छामि । सः—अगदः, मम दण्डो—महदृष्टः, तस्य तेन वा,
यत्संघुटनं तस्मात्, अस्मद्वीरगणस्य प्रभूतैः—बहुतरैः, विशिलैः—बाणैः,
द्वित्रैः दिनैः, सेत्स्यति—निष्पन्नो भविष्यति । अथ तीक्ष्णो—निशातः उदग्रः
—उद्भटः यः कृपाणस्तेन कृत्ता—छिन्ना या पृतना—सेना, तथा आस्तीर्णा—

(पुनः स्रष्टः सन्)

सिंहः केसरलुञ्जनेन शयितः संबोध्य दुष्क्रोधितो

हस्तैः कुंकृतिघोरविस्तृतफणः कृष्णाहिरुद्धोधितः ।

प्रोद्यत्कोलकदम्बभीषणवपुर्वह्निः समालिङ्गितो

यन्मेऽकार्षत् तिरस्क्रियामसिपतेर्भूपालचूडामणोः ॥११॥

(पुनः सरोपं सालुम्बादिसमत्तं प्रतापादीन् लक्ष्मीकृत्य प्रतिजानीते ।)

तिष्ठेन्मिथ्या शिरोऽर्तिर्ब्रजति वसुमतीस्वामिसंस्तूयमानो

मानो मानप्रदाता प्रधनरिपुगणस्तूयमानासिधारः ।

आच्छादिता, या क्षमा-पृथिवी, तथा, दास्य-भयंकरं, स्वं विषयं-
स्वकीयं देशं दृष्ट्वा स्वयं शीर्ष्णो गदः मूलतः प्रशमिता । मूलतः शीर्ष्णो
गदस्योच्छेदान्न पुनस्तयामृतो गदो भविष्यतीत्यर्थः ॥ १० । -

स्रष्टः सन् पुनः कथयति—सिंह इति । शयितः—सुप्तः, सिंहः, संबोध्य
केसरलुञ्जनेन—सटाकर्षणेन, दुष्क्रोधितः, एव कुंकृत्या—कुंकारेण, घोरा-
भयंकारी, विस्तृता फणा यस्य सः, एवंविधः कृष्णाहिः कृष्णसर्पः, हस्तै-
रुद्धोधितः, तथा प्रोद्यन्पूर्वं गच्छन् यः कोलकदम्बो-ज्जालसमूहः, 'बह्वेद-
याज्जालक्रीलौ अर्चिः' इत्यमरः । तेन भीषण वपुः स्वरूपं यस्य सः तयामृतो
वह्निः समालिङ्गितः । इदं तत्कृतम् । यद् भूपालाना-राज्ञा चूडामणोः-शिरो-
रत्नमूतस्य, राज्ञा मध्ये सर्वश्रेष्ठस्य, अतिरतेः—कृपाणस्वामिनः, मत्समत्तं
न कोऽपि कृपाणं घातुं प्रभवति । एवविधस्य मे-मम, यूयं तिरस्क्रियां
निरस्कारमकार्षत् । एतेन सिंहादीनामिव अहमपि शीघ्रमेव युष्माकं हननं
करिष्यामीति व्यज्यते ॥ ११ ॥

अथ प्रतापादीन् लक्ष्मीकृत्य प्रतिजानीते । तिष्ठेदिति । मिथ्या-कृत्रिमा,
शिरोऽर्चनः—शिरोवेदना, तिष्ठेत्—आस्ताम् । वसुमतीस्वामिमिः—मूरतिमिः,
संस्तूयमानः, मानप्रदाता—शत्रूणा मानमर्दकः । दो प्रवक्ष्यन्ने पदा दाने
मिश्राणां मानवर्धकः, प्रधने-संप्रामे, रिपुगणैः स्तूयमाना अतिवारा यस्य
सः । यस्य सङ्गणारां शत्रवोऽपि स्तुवन्ति, स मानो मानसिंहो ब्रजति ।
इदमभयंकरं कार्यं संरचते । अथ चन्द्रदीर्घदेन-चरलमुग्धपदेन, वन्दी-

चन्द्रहोर्दण्डयन्दीकृतनिखिलजगद्भूमिपालासिंहारी

मेवाडं ध्वंसयित्वा सकलमपि कुलं यावनं वो विधास्ये ॥१२॥

सालुम्बः—(सरोपम्) सन्निपातरोगिणः किं किं न जल्पन्ति । याहि

याहि यत्ते शवर्यं तदाचर । स्वसामर्ष्यं नावशेषयेः ।

भर्तारमादाय पितृष्वसुस्त्वं संग्रामभूमिं समुपाश्रयेथाः ।

तन्नाशतो वैरविधिः समाप्तो भवेत्सुखी स्यात्सकलोऽपि लोकः ॥१३॥

(मानः अशृण्वन्निव स्वशिविरं निर्गतः । मन्थ्री तत्रैवास्यात् ।)

प्रतापः—रावतकृष्ण ! ज्ञायते मानोऽपमानं मन्यमानोऽभुक्त

एव निर्गतः ।

रावतः—अहमप्येवमेव संभाषयामि ।

प्रता०—पश्य, कुमारसहितः सालुम्ब इत एवाभिगच्छति । ततः

सर्वमवगतं भविष्यति ।

कृता ये निखिला जगद्भूमिपालास्तेषाम् असिंहारी-तान्विजित्य तेषाम्

सिंहार्या, अहं मेवाडं ध्वंसयित्वा-नाशयित्वा, सकलमपि-समस्तमपि,

यः-युष्माकं, कुलं यावनं-यवनस्येदं यावनं यवन-संबन्धि यवनमेवेत्यर्थः ।

विधास्ये-करिष्यामि । यत्संसर्गेण यूयं मां तिरस्कुर्वध्वे अहं युष्मान्

तद्रूपमेव विधास्यामीति स्वशौर्यातिशयो व्यज्यते ॥ १२ ॥

सालुम्बः सक्रोधं तिरस्कुर्वन् कथयति-याहि याहीत्यादि । अथ यवनेन

सार्धं पितृभगिन्याः सम्बन्धस्मारणेन अनादरातिशयं व्यञ्जयन् कथयति-

भर्तारमिति । त्वं पितृष्वसुः-पितृभगिन्याः, भर्तारमकवरमादाय-अनुन-

यादिना आनीय, संग्रामभूमिं समुपाश्रयेथाः-आगच्छेः । तन्नाशतो वैर-

विधिः समाप्तो भवेत् । तदभावाद् युष्माभिः सहापि नास्माकं वैरं भवि-

ष्यति । एवं सति तन्नाशात्सकलोऽपि लोकः सुखी स्यात् । यवनराज्य-

स्यामावादनयोच्छेदेन सर्वोऽपि लोकः सुखी स्यात् । एतेन आर्यपतेः

प्रतापस्य राज्यं सौख्यजनकमिति व्यज्यते ॥ १३ ॥

प्रतापो मानप्रहृष्यमिथा पलाय्यमानं सैन्यं प्रदर्शयति-मान इति । मानः

अभिमानं-गर्वं, हित्वा इहात्यन्तानादरेण गर्वनाशात् गर्वमिदं मुक्त्वा सर्व-

(ततः प्रविशतः कुमारसालुम्बो)

प्रता०—सालुम्ब ! किमसौ मानोऽभुक्त्वैव गतः ?

सालु०—आम् ।

प्रता०—किमसावब्रवीत् ?

सालु०—सन्निपातरोगिणः किं किं न जल्पन्ति ।

प्रता०—तथापि किमसावब्रवीत् ?

सालु०—पद्मपतण्डुलानुत्तरीये बध्वा “मेवाडं ध्वंसयित्वा सकल-
मपि कुलं यावनं वो विघास्ये” इत्युक्तवान् ।

रावतः—(सक्रोधम्) मेवाडध्वंसकं मन्यमानः कथमसौ न गृहीतः ।

सालु०—अतिथिरिति कृत्वा विमुक्तोऽसौ ।

प्रता०—त्वया पुनः किमुक्तम् ?

सालु०—मया च “स्वकीयपितृष्वसुभर्तारमपि सार्धमानयेः”
इत्युक्तम् ।

रावतः—साधूक्तम्, साधु सालुम्ब ! साधु । वीरोचितमेवोक्तम् ।

प्रता०—पुनः पुनः ।

सालु०—पुनरसौ त्वरितमेव स्वशिविरं निर्गतः ।

प्रता०—पश्य, पश्य, एतत्सैन्यं द्रुततरं प्रयाति ।

मानो हित्वाऽभिमानं ब्रजति लघुतरं सर्वरीन्याप्रभागे

हस्त्यर्धं पत्तियुक्तं निखिलमपि बलं क्षोभमाणं प्रयाति ।

मन्ये मानापमानात्कुपितमिव चलद् घूलिभिर्धूसराङ्गं

सौमानं लङ्घितुं द्राक् सलिलमिव महायत्नमेतद्विधत्ते ॥१४॥

सैन्याप्रभागे लघुतरं पलायमानो ब्रजति । हस्त्यर्धमिति । सेनाङ्गत्वात्

‘द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्’ इत्येकबद्भावः । पत्तियुक्तं हस्त्यर्धं निखिलमपि

—समस्तमपि, बलं—सैन्यं, क्षोभमाणं—प्राणयुक्तं सत्प्रयाति । अहमिदं मन्ये ।

घूलिभिः—रजोभिः, धूसराङ्गि—ईपत्गाण्डूनि, अङ्गानि यस्य तत्तथा मानाप-

मानात्कुपितमिव चलत् एतत्सैन्यं सलिलमिव—जलप्रवाह इव द्राक्—शीघ्रं

सौमानं लङ्घितुं महायत्नं विधत्ते । यथा क्षलप्रवाहः स्थानसंकीर्णतया

सालु०—मन्ये अपमानात्कुपितो मानो वैरायिष्यते ॥
 प्रता०--अस्त्रेनत्, इदं तु पूर्वमेव निश्चितमासीत्, यन्मानोऽ-
 पमानं मन्यमानो रुष्टो भविष्यति । उदूखले शिरोदाने
 मुसलात्का भीतिः । युद्धं तु निश्चितमेव ।
 ताडिताशीविपसमो मानो वैरं चरिष्यति ।
 गत्वा सैन्यं दृढीकृत्य क्षिप्रमेवागमिष्यति ॥१५॥

परमिदानीं तज्जये प्रकारो विचारणीयः ।

रावतः—इदानीमेव सैन्यं सज्जीकृत्य आक्रमितव्यम् ।

प्रता०—स चेदानीमतिथिः, तावत्स्वसीम्नि च गमिष्यति ।
 अथापि एतद्विषयेव द्रुततरं तत्सैन्यं प्रयाति, कथमसौ
 आक्रम्य अहीतुं शक्यो भविष्यति । सर्वान्तामन्तानाहूय
 परिपदि परामर्शः कर्तव्यः । तावत् इदं भवेत् ।

अस्यामुपत्यकार्यां तु न कश्चिच्चारयेत्पशून् ।

न गच्छेदिति राजाज्ञा तद्विराद्भुर्वधो भवेत् ॥१६॥

मन्त्रिन् इमां ममाज्ञाद्दोषय । स बहिर्निर्गत्य डिण्डिमया
 तदाज्ञामुद्धोष्य पुनरागच्छति ।

सालुम्ब ! त्वमपि गच्छ, मन्त्रिन् सायं परिपदि
 सर्वानपि सामन्तानाह्वयतु ।

इतस्ततोऽपि गच्छति एवमेव मानसैन्यमप्येनापि गच्छति । एतेन सैन्ये
 भयातिशयो द्योत्यते ॥ १४ ॥

युद्धस्यावश्यंभावितां प्रदर्शयति-ताडितेति । ताडितो य आशी-
 विपः-विपतरसर्पः, तेन समो मानो वैरं-विद्रेपं चरिष्यति । विपघर-
 सर्पस्य स्वभाव एवायं यत्ताडितः सन् प्रत्यपकारमवश्यमेव करोति ।
 सर्पसाग्येन अवश्यमेव युद्धं भविष्यतीति निश्चीयते । अथ मानस्योद्योगं
 दर्शयति । मानः गत्वा-इह स्थानात् गत्वा, सैन्यं दृढीकृत्य-मुसज्जितं
 विधाय, क्षिप्रमेव आगमिष्यति-आयास्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

मन्त्री—यदाज्ञापयति भवान् । (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)
इति श्री महामहोपाध्याय-मथुराप्रसाददीक्षितकृते चौर-
प्रतापनाटके तृतीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

शुद्धविष्कम्भः

(ततः प्रविशति एकतो जयार्थं शिवमाराद्भुं गच्छन् गुरु-
पुत्रः, अपरतश्च इन्दौरनरेशः)

इन्दौ०—(दृष्ट्वा प्रणम्य च) गुरो ! जयतु जयतु एकलिङ्गेश्वरः ।

गुरुः—आः इन्दौरनरेशः । शुभं भवतु । कं जेतुं प्रचलितोऽसि

इन्दौ०—मानसिंहः अकवरात्सैन्यमादाय योद्धुं समेष्यतीति तज्ज-
यार्थं परिपत् क्रियते तत्रैव गच्छामि ।

गुरुः—मानसिंहो मूर्खो यदधेयवनः सन् आर्यान् कुलीनानपि
तेन सह सम्बन्धयति ।

इन्दौ०—अथ किम् । अत एव तत्परित्यागः कृत इत्यहं साधु मन्ये ।
परं स्वयं प्रतापेन उपत्यका कुतः शून्येव कारिता ।

गुरुः—इदन्तु स्वल्पमेव दृश्यते, द्वित्रैरेव दिवसैर्वापीकूपतडागा-
दिकं कन्दमूललतावृक्षसस्यादिकं च समूलमेव नाशि-
तानि द्रक्ष्यसि ।

इन्दौ०—कुत एवं विधोयते ?

गुरुः—अस्त्यत्र गूढाभिसन्धिः । युभुक्षापिपासाभ्यां तान् हतोत्सा-
हान् विधायाक्रम्य विजेष्यामहे ।

इन्दौ०—साधु साधु । अकवरः प्रतापाय अत्यधिकमौर्ष्यते ।

गुरुः—(विहस्य) प्रतापदर्शकोऽपि प्रतापवशीभूत इव भवति ।

इन्दौ०—अथ किम् । कुतश्चैतदुच्यते ?

गुरुः—श्रूयते करिचद् भट्टः अकवरपरिपदि गत्वा तं तथा तिर-
स्कृतवान् येन स मृतप्राय एव संजातः ।

इन्दौ०—कथम् ?

गुरुः—कश्चिद् भट्टः अकबरपरिपदि उपेत्य स्वशिरसि स्थितं
प्रतापदक्षम् उष्णीषमुत्तार्य आदावर्ष्येत्यवदत् । तेन पृष्टः
कथमिममुत्तार्य्य वन्दसे ? तत्तस्तेनोक्तम् । प्रतापस्यायमु-
ष्णीषो मच्छिरसि । स अनार्थं न वन्दते इत्युक्त्वा
प्रचलितः । ततः सर्वे जहसुः, इति भट्टतिरस्कृतो मृत इव
अकबरः सञ्जातः ।

इन्दी०—(दीर्घं ह ह ह इति जहास) आगतं परिपदः स्थानम्
अहमेव गच्छामि ।

[इति विष्कम्भः]

पटोन्नयनम्

(सर्वं उहितः प्रतापः परामृशति ।)

प्रता०—कथमसावकबरो विजेतव्यः ।

कर्णः—धयं सहस्रयोधिन आगतास्तान् विजेष्यामहे ।

घूडावत्—नहि सर्वे भवादृशाः, असंख्येयसैन्यरश्च शत्रुः, तत्रापि
सहस्रयोधिनो बहवो युद्धविशारदारश्च सन्ति ।

रावतकृष्णः—तत्सैन्यागमने सति अस्माभिः पश्चादाक्रमो विधेयः ।

सालुम्बः—नैतत्संभान्यते, धविच्छिन्नपङ्क्तिक्वास्ते आक्रमिष्यन्ति
भिल्लाधिपतिः—रत्तिम्मि सुअप्पेहिं सेणिएहिं सिबिरम्मि अ-

रात्रो स्वल्पेः सैनिकैः शिविरे आ-
क्रमिय सव्वे णिहंतव्वा ।

क्रम्य सर्वे निहन्तव्याः ।

इन्दौरनरेशः—एवं सति नास्माकं शौर्यं देवा विलोकिष्यन्ते ।

घूडा०—एकदा एवं भवेदपि, न पुनः २ । सावधानास्ते भविष्यन्ति ।

अथ प्रतापस्तत्प्रकारं प्रदर्शयति—वन्ध्या इति । वन्ध्याः—येषु कदा
चिदपि फलानि न प्रादुर्भवन्ति, अकन्ध्याः—फलदातारः । कश्चिदपि
फलिनः अस्मिन्समये फलयुक्ता अनि लुद्राः—लघुकायाः, दीर्घाः—महोन्नता
विटपिग्नाः—वृक्षसमूहाः, शायमाना मवेयुः, समस्तास्ते मूलतः शोधनीयाः
साप्राशयन्तु । सर्वे गोधूमाद्यन्नं, मूलादि यस्य पत्रं मूलञ्चोभयमपि खाचते,

सालु०—एवं कृते शत्रोर्हानिरधिका भविष्यति । परमेवं विधाने
अस्माकं जयो नैव भविष्यति । अनन्तरं ते आक्रम्य
विजेष्यन्ते ।

प्रता०—मम त्वेवं प्रतिभाति । शत्रुसैनिकानद्रिमध्यगान्विधाय
आक्रमितव्यम् ।

सर्वे युक्तम् ! परं तु केन प्रकारेण ?

प्रता०—सर्वाऽप्युपत्यका अन्नजलफलादिभिः शून्या विधीयते
विहिता च तथाविधा बहुतरा ।

तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्ववन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो ज्ञायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः ।
सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्यु-
स्वत्सव नाशनीयं नहि भवतु यतो मद्यलाभो रिपूणाम् ॥ १ ॥

कूपा वाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्पथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा ।
तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या ॥ २ ॥

कन्दं शूरणाधिकम्, मधुकमपि लता वा यत्र कुत्रापि स्युः तत्सर्वमपि नाश-
नीयम् । समुदायविवक्षया चैकवचनम् । एवं कृते सति फलमाह-यतः
रिपूणां मद्यलाभो नहि भवतु । मद्याप्राप्तौ स्वयमेव मृता भविष्यन्ति
पलायिष्यन्ते वा ॥१॥

एवं मद्यालाभं प्रदर्श्य जलालामप्रकारं दर्शयति—कूपा इति । स्वस्य
विषयो—देशः, 'नीवृज्जनपदो देशविषयो' इत्यमरः । तत्र चलिते सत्पथे
'स्वतिभ्यामेव' इति नियमात् 'न पूजनाद्' इति समासान्तप्रत्ययस्य न निषेधः,
अपथे—मार्गाद् यद्विभूते स्थाने, कूपा वाप्यः सरांसि, यावन्ति—यावत्परिमा-
णानि, एतानि क्वचिद् सन्तु, वारि प्रसृतं जलं पल्वलम् अस्पृजला-

अन्नपानाद्यसंप्राप्तेर्न मां ज्ञास्यन्ति दुर्जनाः ।

आक्रम्य युगपत्सर्वान् हनिष्यामोऽद्रिमध्यगान् ॥ ३ ॥

सर्वे—साधु साधु शोभनोऽयं प्रकारः ।

(उत्थाय सर्वे स्वस्थानं गच्छन्ति)

(अत्रान्तरे राजपुरुषो हस्तैर्बध्वा द्वौ पुरुषौ नयतः ।)

राजपु०—राअश्णाओ पावइ अबहेलणफलं सुयं पुरिसो ।

राजाज्ञायाः प्राप्नोति अबहेलनफल स्वयं पुरुषः ।

प्राणदण्डो ऽस्स विहिओ पसुचारणकए चेव ॥ ४ ॥

प्राणदण्डोऽस्य विहितः पशुचारणकृते एव ॥ ४ ॥

शयस्थानं वा क्वचिद् भवेत् । तत्सर्वं समुदायविवक्षया चैकवचनम्, नाशयित्वा, अस्मामि-भया भवद्भिश्च । एतेन युष्माभिरपि स्वस्वस्थाने वृक्षजलादिकं नाशयितव्यमिति सूच्यते । स्वः-स्वकीयो देशः, सर्वतः-पूर्णप्रकारेण, मरुधरसदृशो विधेयः, इत्यनेनेदं सूच्यते, तत्र क्वचित्पीलवादिफलादिप्राप्तावपि अस्मद्देशे सर्वथा फलादेः प्राप्तिर्न भविष्यति । तदनन्तरं महीप्रात्-महीप्रे स्थित्वा पूर्वार्धे च रिपुहननगतिरपि कर्मा, एवं सति पूर्वार्धतया शत्रुष्वाक्रमणमपि कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ फलसिद्धिं प्रदर्शयति-अन्नेति । दुर्जना अकथरपक्षपातिनो मानप्रभृतयः अन्नपानादीनामसंप्राप्तेः, अन्नजलालामात् मां न ज्ञास्यन्ति । कुत्र स्थितः प्रतापः, तत्सैनिका वा कुत्र सन्ति, तत्प्रजा वा कुत्रास्तीति तेषां ज्ञानमेव न भविष्यति । वयं युगपत् आक्रम्य अद्रिमध्यगान्-पर्वतमध्यायातान् । एतेन तेषां पलायने मार्गस्याभावो बोध्यते । सर्वान् हनिष्यामः-नाशयिष्यामः । तेषां नाशे सति अस्माकं जयो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्ये एवं मा कार्पुंरिति राजाज्ञाया अबहेलनफलं भावयति-राजाज्ञेति । पुरुषः स्वयमेव अन्यैः सह वैराद्यभावेऽपि, राजाज्ञाबहेलनफलं प्राप्नोति । तत्र राजाज्ञाया अबहेलने स्वल्पफलेऽपि प्राणदण्डो भवतीति दर्शयति । पशुचारणकृते एव-नैतावता राशो हानिर्विहिता, किन्तु अज्ञाभङ्ग एवेति कृत्वा अस्य वृद्धस्य प्राणदण्डो विहितः । तस्मान् युयं सर्वथा राजाज्ञां पालयतेति सूचितं भवति ॥ ४ ॥

भिल्लपुत्रः—आ ! दारुणा से आणा, पिढणो सूलीदंडो
 आः ! दारुणा तस्य आजा । पितुः शूलीदण्डो
 विहिञ्चो । कल्ले भइणीभत्तुणो वि सूलीदंडो
 विहितः । श्वो भगिनीमत्तुरपि शूलीदण्डो
 हविस्सइ ।
 भविष्यति ।

(अन्तर्गृहादानीय घनुः शराश्च सज्जीवृत्य प्रतापं हन्तुं प्रतिजानीते ।)
 मि० पुत्रः—भइणीए वेहन्वाओ पुण्वं चेव पदावं हणिरसे ।
 भगिन्या वैघव्यात्पूर्वमेव प्रतापं हनिष्यामि ।

मि० भगिनी—भाय ! अम्हाणं सवहो, मा पदावं
 भ्रातः ! अस्माकं शपथः, मा प्रताप
 हण । सो कसु अम्हाणं अण्णदाअओ राज्जा ।
 जहि । स खलु अस्माकम् अन्नदायको राज्जा ।
 सो कसु ईसरो ।
 स खलु ईश्वरः ।

(इति ब्रुवती गृह्यति)

मि० पुत्रः—मुंचठ अम्हे, पदापं हणिरसे ।
 मुञ्चतु अस्मान्, प्रतापं हनिष्यामि ।

मि० भगिनी—कम्हा ?
 कस्मात् !

मि० पुत्रः—कहं खु तुए ण सुअं ? पिया सूली कारिओ,
 कथं खलु त्वया न धृतम् ? पिता शूली कारितः,
 तत्कल्लेअरं पि ण दावेइ । कल्ले तुह भत्तुणो वि
 तत्कलेवरमपि न दापयति । श्वस्तव भत्तुरपि
 सूली हविस्सइ ।
 शूली भविष्यति ।

मि० भगिनी—कम्हा सूली कारिओ ?
 कस्मात् शूली कारितः ?

भि० पुत्रः—मह पिता गिज्जरां उवशयाभाअं दट्ठण अया-
 मम पिता निर्जनमुपत्यकामागं दट्ठा अजा-
 वोओ चारेवं गओ । रणणो य आणाए अवहेलणकए ।
 बोधवारयित्तुं गतः । राश्व आशाया अवहेलनकृते
 पिउणो सूली दंडो फारिओ, फल्ले तुह भत्तुणो
 यित्तुः शूली दण्डः फारितः, श्वस्त्व मत्तुः
 सूली दंडो हविस्सइ ।
 शूली दण्डो मविष्थति ।

भि० भगिनी—एवं पि अपरिक्खओ पदावो चिट्ठउ ।
 एवमपि अपरिच्छतः प्रतारस्तिष्ठतु ।

(इति पादयोः पतति स चावधूय निष्क्रान्तः ।)

चारणः—न स्वर्णाभूषणै राजा राजा भवति शक्तिमान् ।
 अन्यैरपरिभूताज्ञो राजा लोकैर्निगद्यते ॥ ५ ॥

(इति गायत्रिष्क्रान्तचारणः ।)

(भिल्लभगिनी उत्प्राय स्थिता सती विन्तयति ।)

भि० भगिनी—हा पदावो अपरिक्खयंगो होउ । हे अग्निदेव !
 हा प्रतापोऽपरिद्धताज्ञा भवतु । हे अग्निदेव !
 पाण्णाहाहियायअं सअललोअसंथूयमाण-
 प्राणनाभाधिनायक सकललोकसत्थमान-

“राज्ञो हानिर्नैव जाता, इत्यपराधो नैवास्ताति दण्डाऽनुचित इति
 प्रजायां प्रवादो न प्रसरेदिति” चारणो गायन् राज्ञ् श्रौचित्कारितां आव-
 यति—न स्वर्णैति । शक्तिमान्—शक्तिसंपन्नो राजा, स्वर्णाभूषणैः राजा न
 भवति—न खलु बहुतरस्वर्णादिभिः स राजा भवति किं तु अन्यैरपरिभूता
 संधंथा स्वीकृता आशा यस्य सः, एवमूत एव पुरुषो लोकैः राजा निगद्यते ।
 एवं च तदाशाया अवहेलने तस्य राजत्वमेवोन्मिद्यत इति तदुन्मिद्यकस्य
 प्राणदण्ड उचित एव जातः ॥ ५ ॥

कित्तिमंडलं सुजसत्योमघवलियदिव्बिभाञ्चं
 कीर्त्तिमण्डलं स्वयशःस्तोमघवलितदिव्बिभागं
 सव्वजणमणोरंजणकरणपक्खाअविहवं सरिय-
 सर्वजनमनोरञ्जनकरणप्रख्यातविमवं स्य-
 पदावाओ वि अहियञ्जरं सुसोहरां अम्हायां
 प्रतापादपि अधिकतर सुयोमनम् अस्माकं
 पदावं अपरिक्खयंगं करेउ । हा ! भाया गओ
 प्रनापम् अपरिच्छताङ्गं करोतु । हा ! भ्राता गतः,
 पदावं परिक्खयंगं करिस्सइ ।
 प्रतापं परिच्छताङ्गं करिष्यति ।

(इति रुदती सती स्थिता सर्वतोऽवलोकते)

(लघुभ्राता विह्वला भगिनी विलोकयति)

ल० भ्रा०—भइणि ! कहं विह्वला ?

भगिनी ! कथं विह्वला ?

(भगिनी भ्रातुः स्वरसंयोगादिकञ्चिदुच्छ्वस्य)

भि० भगि०—हा कुलदेवआओ ! पदावं अपरिक्खयंगं करेह ।

हा कुलदेवताः ! प्रतापमपरिच्छताङ्गं कुरुष ।

ल० भ्रा०—भइणि ! पदावो अपरिक्खयंगो चेव चिट्ठइ ।

भगिनि ! प्रतापः अपरिच्छताङ्ग एव तिष्ठति ।

(भि० भगिनी पुनः प्रबुद्धा सती लघुभ्रातरं विलोकयति)

भि० भगिनी—भाय ! अञ्ज तुह भाया पदावं मारेउं पडिमुणिये

भ्रातः ! अद्य तव भ्राता प्रतापं मारयित्तुं प्रतिशाय

रायट्टायां गओ । पदावं रक्खेह, सो क्खु ईसरो ।

राजस्थानं गतः । प्रतापं रक्षयथ, स खल्लु ईश्वरः ।

भ्रात इति । 'अत्र अद्य तव भ्राता' इत्यारम्य 'अपरिच्छताङ्गो भवतु' इति पर्यन्तेषु प्रत्येकपदेषु विशिष्टस्वारस्यमस्ति, विस्तरमिया न भदरयते, विद्वद्भिः स्वयमूह्यम् ।

वेद्यमरिआदारखणपरो विविहवजराच्चाय-
 वैदिकमर्यादारक्षणपरो विविधव्यञ्जनत्याग-
 गहिअमुणिव्वओ अप्पकुलपरंपरागयसत्तसमा-
 ग्घीतमुनिव्रतः आत्मकुलपरंपरागतश्रौतस्मा-
 रत्तकम्मकरणनिडणो शिअपयापालणाधिसुत्त-
 तं कर्मकरणनिपुणो निजप्रजापालनविमुक्त-
 सव्वसुहो अम्हाणं राया पदावो अपरिक्खयगो
 सर्वसुखः, अस्माकं राजा प्रतापः अपरिच्छताङ्गो
 होठ ।

भवतु ।

ल० अ० भिल्लः—कम्हा तेया पडिण्णायं ?

कस्मात् तेन प्रतिज्ञातम् ?

भि० भगिनी—तुह पिउणो रण्णा सूली दंडो विहिओ ।

तव पित्तुः राजा शूली दण्डो विहितः ।

ल० अ० भिल्लः—भुयं चेव । मह पिआ तुह भत्ता अ रायाणं
 धुतमेव । मम पिता तव मर्ता च राजाम्
 आणा ओहितिय अयावीओ चारेउं गया ।
 आशामवहेल्य अजावीश्चारयित्तुं गतो ।
 तेण तेसिं पाणदण्डो विहिओ । खहि क्खु
 तेन तयोः प्राणदण्डो विहितः । नहि खल्ल
 रण्णा अप्पणो कप्प दारुणा आणा किआ ।
 राजा आत्मनः कृते दास्या अजा कृता ।
 किं तु पयाअणारक्खणदण्डं चेव । जओ
 किन्तु प्रजाजनरक्षणार्थमेव । यतः
 सुण्णदण्डाणदंसणैण रिक्खणं गाणं चेव ए
 शून्यस्थानदर्शनेन रिपूणां ज्ञानमेव न
 हविस्सइ । कुत्थ पदावो कुत्थ वा तस्स
 भविष्यति । कुत्थ प्रतापः कुत्थ वा तस्स

पयाअणो, अओ अम्हे मुहम्मदधम्माओ
 प्रजाजनः, अतोऽस्मान् मुहम्मदधर्माद्
 रक्खिउं दारुणा आणा विहिआ ।
 रद्धिउ दारुणा आणा विहिता ।

भि० भगिनी—पदावं रक्ख ।

प्रताप रत्त ।

ल० भ्रा० भिल्ल.—केणोवाएण ।

केनोपायेन ।

भि० भगिनी—अम्हे गंतूण पदावस्स सविहे अहवा
 वय गत्वा प्रतापस्य सविधे अथवा
 पदावदेवीए सविहे कहिस्सामो— पदावो
 प्रतापदेव्याः सविधे कथयिष्यामः— प्रतापः
 अज्ज आहेडत्थं ए गच्छउ त्ति अपरिक्खओ
 अद्य आखेटार्थं न गच्छत्तिविति अपरिद्धतो
 होहिस्सइ ।

भविष्यति ।

ल० भ्रा० भिल्लः—जुत्तम् ।

युत्तम् ।

(इति द्वावपि भ्रातामगिन्यौ गच्छत.)

पटोन्नयनम् ।

(अथ प्रभाते तत्रैव राजद्वारे तावुपस्थितौ । प्वरात्रान्ता मूर्च्छितेव भिल्लौ
 प्रलपति पदावं रक्खेह ईसरो सो ।' प्रताप आगत्यावलोकयति ।

प्रताप —केयं ? किमियं कथयति ?

भिल्लः—इमाए भावणा तुम्हं मारेउं पडिएणाअं ति एिवेउं
 अस्या भ्रात्रा त्वा मारयितु प्रतिज्ञातमिति निवेदयितुम्
 आगया ।

आगता ।

प्रतापः—सौभाग्यवती भव । एवंविधा एव स्त्रियो मम राज्यश्रियः सन्ति ।

मिल्ली—मह भक्त्यो मारेडं पडिण्णाअं कहां सोहग्गवई
मम भर्तारं मारयितुं प्रतिज्ञातम्, कथं सौभाग्यवती
होस्सामि ।
भविध्यामि ।

प्रतापः—

तव कान्तमथापि यो निहन्यात् प्रथमोऽसौ रिपुरस्तु मे रिपूणाम् ।
मयि रक्षति ते प्रियं त्रिलोक्यां नहि कोऽप्यस्ति निपीडितुं समर्थः॥६॥

मि० भगिनी—सो तुम चेव आणाभंगस्स अवरानी ।

स तव एव आशाभङ्गस्य अपराधी

(ततः प्रविशतो राजपुरुषैर्गृहीतो धनुर्वाणसहितो मिल्लः राजाशाव-
हेलकस्तस्याः पतिश्च ।)

राजपुरुषः—महाराज ! एष भवन्तं मारयितुं लताविटपान्तरितो
भूत्वा स्थित आसीत्, भवतश्चरैर्दृष्टः सूचनानुसारि-
णा मया गृहीतश्च ।

मि० भगिनी—महाराज ! एसो वस्तु मह भाजा, अवरो मे
महाराज ! एष तल्लु मम भ्राता, अपरो मे
सामी, रक्खेह इमे ।
स्वामी, रक्षयत इमी ।

अथ प्रतापस्तस्याः सौभाग्यवत्त्वे परिपन्थिनमुद्दिश्य कथयति—तथेति ।
अथानि मया सौभाग्यवतीत्वेन प्रतिपन्नायां त्वयि यः कोऽपि तव कान्तं-
पतिं, निहन्यात्—मारयेद् । असौ मे—मम, रिपूणाम्—अक्षरमानसिंहादीना
मध्ये प्रथमो रिपुरस्तु, सर्वेभ्यः पूर्वमसावेव हन्तव्योऽस्तु । ते—तव प्रियं मयि
रक्षति सति त्रिलोक्यां कोऽपि निपीडितुं विरोधकरणे तदनिष्टसंपादने समर्थो
नास्ति । महाराज इति 'कगचअतदपयवां प्रायो लुक्' इति जकारलोपः ।

प्रतापः—इमौ मुच्येताम् । इयं राज्यलक्ष्मीर्मा वैधव्यं भ्रातृमरण-
दुःखं वा अनुभवतु ।

(राजपुरुषः किञ्चिद् वक्तुमिच्छन् स्थितः ।)

प्रतापः—नास्मिन्विषये किमपि वक्तव्यम् । एवंविधाया एव
राजभक्तप्रजायाः कृते देशरक्षा । अस्थाः पितुः शवोऽपि
दीयताम् ।

राजपु०—यथा आज्ञापयति महाराजः ।

पटोन्नयनम्

(इति तौ मुञ्चति, शवं च ददाति । ततः सर्वे निष्कामन्ति)

(ततः प्रविशति सिंहासनस्थितस्य अकबरस्य सविषे मानसिंहः)

मानसिंहः—विजयताम् विजयताम् सार्वभौमो महाराजः ।

अकबरः—(निःश्वस्य) सेनापते ! यावदयं प्रतापो न नम्रीक्रियते
तावन्न मे सौख्यं, नापि सार्वभौमता ।

'श्रवणो यःश्रुतिः' इत्यस्य कैकलिक्त्वात्कचिदकार एव । एवम्—भाया-
भाया, राया-राया, सोहिअ-सोहिय, अन्धआर-अन्धयार, महिश्र-महिय
इत्यादिध्ववगन्तव्यम् । किञ्चिद् वक्तुमिति । असौ भवन्तमेव मारयितुं
प्रच्छन्नः स्थितो गृहीत इत्यक्षयापराधोऽसौ निहन्तव्य एव । अपरोऽपि
भवदाज्ञावहेलक इति कथं मुच्यते एषोऽपि हन्तव्य एव । नास्मिन्विषय
इति । सर्वं मयाऽत्रगत्य विचारपूर्वकमेव कृतमिति नात्र कथनस्यावसरः ।

अथ अकबरसमीपे समागतो मानसिंहः सर्वभूम्यधिपतिमकबरं मन्य-
मानः कथयति—विजयतां २ सार्वभौम इति । निःश्वस्येति—प्रताप-
प्रभावतः सार्वभौमताया नाशात्सार्वभौमपदभ्रवणतो दुःखोद्रेकान्निःश्वस्य
कथयति—सेनापते इति । अजिते प्रतापे न मम सुखं, सार्वभौमता तु स्वत
एव नास्ति । तस्मात्किं कर्तव्यमित्याह—यावदिति । यावत्प्रचण्डो-महा-
वीरो, दारुणश्च, प्रतापो—मेवाहाधिपतिः, ज्येष्ठमासिकः संतापश्च, तपति-
स्वप्रभावतः स्वातन्त्र्येण तिष्ठति, धर्मेण खेदं जनयति च । तावदेव-
तावत्पर्यन्तं, शान्तिर्नैवागच्छति । एषः प्रतापः त्वया शरवर्षणेन-शराणां

यतः—यावत्प्रतापस्तपति प्रचण्डो न शान्तिरागच्छति तावदेव ।

त्वयैष शान्त्यः शरवर्षणेन सोष्मागमं पक्वफलं नयेनम् ॥७॥

मान०—आः ! महानयमभिमानो, न बहुकालं स्थास्यति यदयं
मामपि तिरस्कुरुते ।

अकबरः०—किं किम् । 'मानस्याप्यपमानमेव कुरुते' किं
सत्यमेतत् ?

मानः—सत्यमेवेतत् न श्रुतं, किन्त्वनुभूतमेवेतत् ।

अकबरः—आगतं पर्यवसानमस्य, यत् त्वामपि तिरस्कुरुते । को नाम
जगति तव तिरस्कर्ता जीवितुं प्रभवति । स्वयमेवासौ
कुठारेणात्मपादौ छिनत्ति ।

मान०—अथ किम् ! मुमुर्षोः पिपीलिकायाः पक्षी समुत्पद्यते ।

अक०ः—सेयं मे निकृतिर्यदेव हतको मत्तुल्यतामिच्छति ।

— त्वामप्येव तिरस्करोति तदिदं धिग्-धिग् घृथा पौरुषम् ॥
किं काश्मीर-कलिङ्ग-वङ्गविजयात् किं वापि यान्या जयात्
यावन्नैव जितो भवेदयमरिर्मेवाडदेशाधिराट् ॥८॥

बाणाना वर्षणेन, शर इव वर्षणेन वृष्ट्या च, शान्त्यः-शमनीयः, यथा
वृष्ट्या तापः शान्त्यते, एवमेव त्वयैष शमनीयः । तथा त्वं सोष्मागम-
ऊष्मागमेन सहितं, पश्चात्तापेन सोच्छ्वासम्, उष्णयुक्तं च । 'उष्ण
ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः । पक्व—चरमावस्थाधि फलं दुरदृष्टभोगो यस्य
तम्, अन्यत्र परिष्कृतफलमेतं प्रतापं नप प्रापयेत्तर्षः ॥ ७ ॥

अथाकबरः किं किमित्यादिना मानसिहमुत्तेजयति । पुनरुत्तेजयन् कथयति-
सेयमिति । सा इयं परामृष्यमाणा प्रत्यक्षतया मया स्वयमनुभूयमाना च
मे मम निकृतिरनादरः, यदेवः मम सोमासविषे विद्यमानो, हतको
मृतप्रायो, दरिद्रो मत्तुल्यतामिच्छति, स्वातन्त्रेणात्मानं ख्यापयति ।
नैतावतैव शान्त्यति किंतु एष त्वामपि तिरस्करोति । अहो इत्थं चयं ।
निष्फलं मज्जीवनं धिक् २ अत्र तुल्यताया इच्छुकस्य तिरस्कारकर्तुरन्वै-

चतुर्थोऽङ्कः

मानः—अहमेवं प्रतिजाने ।

जित्वैनं भवतः पदाम्युजगतं नेष्ये कुटुम्बान्वितं
किं वा व्याकुलितं वनेचरमिव भ्रान्तं विधास्ये क्षणात् ।
यद्वा स्वामवलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वा क्षुधा व्याकुलां
ताम्यन्तं चरणे स्वयं निपतितं सन्धौ नियोक्ष्ये द्रुतम् ॥६॥

अक०—सर्वं त्वयि संभाव्यते । एवं सति त्वामेवास्य देशस्या-
धिपतिं करिष्यामि ।

मानः—अस्तु । यथा भवद्भ्यो रोचते । श्रुतमेतन्ममागमन-
समनन्तरमेव समस्तामेव मेवाडोर्वरां भुवं विध्वंस्य कुतोऽपि
विनिर्गतः ।

कृत्वप्रतिपत्तये विहितस्य एष इत्यस्य न कथितपदत्वम् । अथ पुनराह-
कार्शोरकलिङ्गवङ्गदेशानां विजयात् किम्, न किञ्चित्तेषां जयात्सिद्धिः,
अथवा याम्या दक्षिणस्या दिशो जयात्किम्, तज्जयेऽपि न सर्वथाऽभि-
मतसिद्धिर्जाता । यावदयमरिर्मेवाडदेशाबिराट् प्रतापो जितो न स्यात्ता-
वत्सर्वं व्यर्थमेव । अजिते तस्मिन्न सार्वभौमता नापि सौख्यमिति
तदाशयः ।

अथ मानस्तं संतोषयन्प्रतापजयाय प्रतिजानीते—जित्वेति । अहं
मानसिंहः, कुटुम्बान्वितं कलत्रादिसहितम् एनं प्रतापं जित्वा भवतः पदे,
नेष्ये—प्रापयिष्यामि । अत्र कुटुम्बपदेन सुतस्यापि ग्रहणम् । किं वा इतस्ततः
अमन्तं विधास्यामि । यद्वा—अमुं दीनमिव व्याकुलितं—व्याकुलचित्तं
वनेचरमिव-गृहाभावाद् वननिवासिनमिव भ्रान्तमनवस्थित क्षणाद् विधास्ये
यद्वा स्वाम् अवलाम्, क्षुधा व्याकुलां रुदतीं सुतां च दृष्ट्वा ताम्यन्तं
व्यर्थमेव मया विरोधः कृत इत्यादि पश्चात्तापं कुर्वन्तं, स्वयं कस्यचिदपि
प्रेरणाया अभावेऽपि चरणे भवत्पदे निपतितम् अमुं सन्धौ—सन्धिकरणे
द्रुतं नियोक्ष्ये, नियोजयिष्यामि । स्वजीवनस्योपायाभावेन अगत्या भवच्चरणे
निपत्य स्वयमसौ सन्धिं प्रार्थयिष्यतीति भावः । अत्र द्वितीयादित्रिभिश्चरणैः
पञ्चमाङ्कगतं वृत्तं चिन्दुरूपेण क्षिप्यते ॥ ६ ॥

अक०—कातरोऽसौ, भवताःवश्यमेव विजेतव्यः ।

भवद्भयाद् यो विपिने पलायते

शिलोच्चये वाऽपि निलीयते क्वचित् ।

रणाङ्गणे चापघरस्य कुप्यतः

कथं समक्षं स तवागमिष्यति ॥ १० ॥

मानः—एवमेवैतत् । भवत्प्रतापस्थैवायं प्रभावः । अहमेनं क्षणादेव
ग्रहीष्यामि ।

(मनसि)—कृपाणपाणिं समराङ्गणागतं

विपक्षपक्षक्षयकारकं क्रुधम् ।

नृसिंहशौर्याकृतिधारकं तर्कं

क एव धर्तुं प्रभवेद्भरातले ॥ ११ ॥

अकबरः सर्वं त्वयोत्पादिना मानसिंहं प्रोत्साहयति ।

पुनः प्रतापस्य कातर्यं प्रकटयस्तज्जये सौकर्यातिशयं दर्शयति-भवदिति।
यः प्रतापो भवतो भयाद् विपिने घने पलायते । अथवा क्वचिदपि शिलो-
च्चये पर्वते निलीयते । निह्नुत्य तत्र तिष्ठतीत्यर्थः । सः प्रतापः रणाङ्गणे-
रणचत्वरे, कुप्यतः-क्रोधं कुर्वत, चापघरस्य-धनुर्धारिणस्तव समक्षं कथं-
मागमिष्यति । अत्र पूर्वार्धेन प्रतापस्य कातर्यं निरूप्योत्तरार्धप्रथमपादेन
मानस्य निर्माकता प्रतिपाद्यते, ततश्च प्रतापस्य कातर्यातिशयित्वं
व्यज्यते ॥ १० ॥

अथ अकबरचाटुक्तिभिः प्रोत्साहितो मानः-अहमेनं क्षणादेव
ग्रहीष्यामीति कथयति । मनसीति । वास्तविकतया प्रतापस्वरूपं विचार-
यन् मनसि चिन्तयति ।

कृपाणैति । कृपाणं पाणौ यस्य स तथा । शस्त्ररहितः कथंचिद् ग्रहीतुं
शक्यते परं तु कृपाणपाणैस्तस्य ग्रहणमसंभवमेव । समराङ्गणे आगतम्,
विपक्षपक्षाणां-शत्रुसहायकानां सैनिकानामित्यर्थः, क्षयस्य-नाशस्य कार-
कम् । तथा क्रुधम्-क्रोधयुक्तम् । नृसिंहस्य साक्षान्नृसिंहावतारधारिणः प्रभो-
र्यञ्छौर्यं तस्याकृतेर्धारकम्, नृसिंहवच्चौर्यशोभायमानं तर्कं तं प्रतापम् ।

(प्रकाशम्) यद्यपि जुद्धोऽयं सुखेन जय्यश्च तथापि वनेचर-
सहायकोऽसौ, न जाने कियदस्य वलं भवेदतो महत्ता
धलेन सहाक्रमितव्यम् ।

अरु०—अस्य भ्राता शक्तिसिंहः एतेन विरुध्य इदानीं मम
शरणमेवायातः ।

मानः—यद्यपि शक्तिरहितः सुजयोऽयं तथाऽप्यस्य जये महान्
यत्नः कर्त्तव्यः ।

अरु०—अवश्यम् परं कैः साधनैरस्योपरि अभियातव्यं, कथं
चेत्यादि विचारयितुं सलीमशक्तिसिंहप्रभृतयः प्रष्टव्याः ।
मन्ये शक्तिसिंहाद् बहुतरभेदस्फोटनं भविष्यति ।

मानः—युक्तमिदम्, परमहं संभावयामि शक्तिसिंहः प्रतापमव-
लान्य भ्रातृस्नेहानुविद्धः स्यात् ।

अरु०—अधुना भेदस्फोटनं तु करिष्यति, तस्य छिद्राणि
कथयिष्यति, प्रतिबन्धं च बोधयिष्यति, येन स सुजयो
भविष्यति ।

मानः—एवं भवतु, न काचिदनुपपत्तिः ।
(ततोऽरुवरः घण्टकया दौवारिकमाह्वयति ।)

दौवारिक ! त्वरितं सैनिकसामन्तान् आनय ।

'अव्ययसर्वनाम्नाम्-' इत्यकच् । क एव घरातले-पृथ्वीमण्डले घट्टं
प्रमवेत् । अत्रोत्तरोत्तरपदैर्मयातिशयो लीत्यते ॥ ११ ॥

तत्र च नाहं प्रताप प्रहीतुं शक्य इति निश्चित्य प्रकाशरूपेण महत्ता
पक्षेनाक्रमितव्यमिति साहाय्यं प्रार्थयते । अरुवरः प्रतापजये उपायलाभं
दर्शयति अस्य भ्रातेत्यादि भ्रातृपदेन सकलतद्रहस्वशातृत्वं, विरुध्येत्यनेन
तदोपप्रकाशकावं, मम शरणमेवेत्यनेन ममानुकूलकारित्वं बोधयते ।

भ्रातृस्नेहानुविद्ध इति । एतेन चतुर्पाङ्कसमाप्तिगतं प्रतापशक्ति-
विहयोः स्नेहानं बिन्दुरूपेण प्रतिष्यते ।

दौवा० - जहा आणा (प्रणम्य गतः ।)

मानः—श्रुयते भिल्लराजप्राणदण्डेन सर्वेऽपि भिल्लमीणा
विरुद्धाः संजाताः ।

अक०—नहि-नहि मूर्खास्ते । प्रतापमवलोक्यैव सर्वे तदनुगामिनो
भविष्यन्ति ।

(अथ दौवारिकेण सह सैनिकसामन्ताः प्रविशन्ति)

अक०—दौवारिक ! त्वं स्त्रनियोगमशुभं कुरुस्व
(इति निष्कान्तो दौवारिकः)

अक०—शक्तिसिंह ! प्रतापो विजेतव्यः, एष मानस्याप्यप-
मानं कुरुते ।

शक्ति०—मदान्धोऽयम् । यत् स्वकीयानप्यसौ नावलोकयति ।

अक०—तर्हि अभ्योपरि अभियातव्यम् ।

समोलः—केन प्रकारेण, कियता बलेन वैत्यत्र भवद्भिः किं
निर्धारितम् ?

अक०—शृणु—

वीराः क्षत्रियवंशजाः कलिकलापारं गता मत्प्रिया

गच्छेयुः पदचारिणः कवचिन्धिशत्सहस्रं रणे ।

तेषां चापि पुरःसरं शरशतं दन्तावलानां कुलं

यायाःकुन्तधरा व्रजेयुरयुतं मध्ये तयोः सादिनः ॥ १२ ॥

अथ अकवरः स्वसैनिकानां सख्या तेषां स्थितिं च प्रदर्शयति—वीरा
इति । क्षत्रियवंशजाः-परंपरागतशुद्धक्षत्रियवंशीत्पन्ना । एतेन तेषामप-
स्त्रायनं सूच्यते । कलेयुद्धस्य कलायां पारगताः—युद्धकलाकुशलाः । एतेन
तेषां दक्षत्वं सूच्यते । मत्प्रियाः—मम प्रियाः, अथवा—अहमेव प्रियो येषां
तैः । एतेन तेषां मत्प्रियापाततया साभिनिवेशेन युद्धकारिष्वं बोध्यते । कव-
चिनः—परिहितकवचाः, पदचारिणः—पदातयः, त्रिशत्सहस्रं वीराः, रणे—
संग्रामे, गच्छेयुः । तेषां वीराणांमपि पुरःसरमग्रगामि शरशतं दन्तावलानां
इस्तिनां, कुलं यायात्—गच्छेत् 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः । तयो-

किं च—पार्श्वे पट्टिः सहस्र यवनबलभुवां सैनिकानामुपेया-
 दवेन्तोऽखर्वदर्पा अरवधनभवा सचरेयुः सहस्रम् ।
 मान शाहः सलीमः सगरमहवतौ शक्तिसिंहादयस्ते
 सर्वे सैन्याधिपत्य समरसुचतुराः कार्यतः संविदध्युः १३
 ग्रहीष्यति प्रतापं यो जीवन्त समरागतम् ।
 तं तोपयिष्ये बहुशो दानमानविभूषणै ॥ १४ ॥

सलीम । त्वां सैन्याधिपत्ये नियोजयामि । यदि जीवन्नसौ-
 न गृहीयात्, तदैनं हत्वा अस्य सुतं निगृहीया ।

हस्तिपदचारिणो मध्ये अयुत-दशसहस्रस्यका कुन्तधरा. कुन्तधारिण,
 सादिन-अश्वारोहा 'अश्वारोहास्तु सादिन' इत्यमर । व्रजेयु-
 गच्छेयुः ॥ ११ ॥

पुनरन्या यवनसैनिकाना सत्या प्रदर्शयति-पार्श्वे इति । पार्श्वे-
 तत्सैन्यस्य उभयपार्श्वभाग, यवनबलभुवा-यवनसैन्यतया गृहीताना, यद्वा
 यवनाना बलेन भूस्त्रतियेषा ते तेषाम् । इडाद् यवनतामागदिताना
 पट्टि सहस्रम्, उपेयात् । पट्टिसहस्र सत्याका यवनसैनिका गच्छन्वित्यर्थ ।
 तथा न खर्व-अखर्व 'खर्वो हृस्वश्च वामन' इत्यमरः । अखर्वो गर्वो
 येषां ते तथा । अरवधने भव उत्त्रतियेषा ते-अरवदेशीयवनो यन्नाः ।
 वनभरत्वेन स्नातन्त्यात्तेषु पराक्रमातिशया द्यात्यते । सहस्र सहस्रसत्याका
 अवेन्त-अश्वा संचरेयु सम्यक् यथावस्थितरीत्या गच्छन्तु । समरसुच
 तुरा-समरचातुर्ययुक्ता, मानो मानसिंह, शाह शाहसलीमसगरसिंह-
 महावतशक्तिसिंहादयस्ते सर्वे, कार्यतः आवश्यककार्यावसरे, सैन्याधिपत्य-
 सैन्ये अधिपतित्व, संविदध्यु सम्यक्प्रकारेण कुर्वन्तु । एतेन सैन्यपलायना-
 वसरे शाहवाजेन कृतोऽकवरागमोद्धोषो विन्दुरूपेण क्षिप्यते ॥ १३ ॥

अथ प्रतापग्रहणाय प्रलोभनद्वारा सर्वान्सञ्जीकरोति-ग्रहीष्यतीति ।
 योऽस्मत्सैनिक समरागत-समरप्राप्त जीवन्त प्रताप ग्रहीष्यति त दानेन-
 ग्रामादीना दानेन, मानेन-उच्चासनाभ्युत्थानादिना, विभूषणेन, वस्त्रा-
 म्पूषणै. बहुशो-बहुतर तोपयिष्ये-प्रसादयिष्यामीत्यर्थ ॥ १४ ॥

सलीमः—आः ! कोऽयं वराकः—

लीनः पर्वतकन्दरासु विपिने त्रासान्मदीयादसौ

दैवान्मे समरागतो यदि भवेन्नैत्रातिथिः कुत्रचित् ।

क्षिप्रं तर्हि निपात्य तं भुजबलाद् बद्ध्वा भवत्यादयो-

नेष्यामीति समस्तसैन्यपसभासाक्ष्ये प्रतिज्ञायते ॥ १५ ॥

पृथ्वी०—नायं भुजयः, रणविद्याशारदो महाबलिष्ठश्च सः ।

कः कोपोत्कटशक्रचापसदृशभ्रूमङ्गभीमाननं

चञ्चच्चारुकृपाणकृत्तपृतनासृग्बिन्दुकिर्मारितम् ।

अथ संग्रामे तस्मिन् हते सति तत्सुतमेव निगृह्णीयाः इत्यादिशत्य-
कवरः । अथ सलीमः अकिञ्चित्कर प्रतापं मत्वा कथयति—आः कोऽयं
वराक इति ।

पुनस्तद्ग्रहणं प्रतिजानीते—लीन इति । असौ प्रतापो मदीयात्-
मत्संबन्धिनः त्रासाद्-भयात्, पर्वतानां कन्दरासु विपिने-अरण्ये वा लीनः
अन्तर्हितः यदि दैवादृष्टवशतः समरागतः संग्रामप्राप्तं कुत्रचित्मेनासं-
रोहे गजे अश्वे वा कुत्रापि मे-मम नैत्रातिथिः—दृग्गोचरो भवेत्तर्हि क्षिप्रं
तं निपात्य भुजबलात्—अन्यनिर्षेक्षतया स्वकीयभुजबलेन बद्ध्वा भवत्या-
दयोः—भवच्चरणान्बिन्दसमीपे नेष्यामि-प्रापयिष्यामि । इति सैन्यं पान्ति
रक्षन्तीति सैन्यपाः 'अतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । समस्ता ये
सैन्यपास्तेषां या सभा तस्याः साक्ष्ये साक्षिताया मया प्रतिज्ञायते । सर्वसे-
नापतीन्साक्षीकृत्य तद्ग्रहणं प्रतिजाने ॥ १५ ॥

अथ पृथ्वीसिंहस्तत्कथनमसहमानः कथयति—रणविद्येत्यादि । रण-
विद्यायां विशारदः । तेन त्वया निपातयितुं नैव शक्यः, महाबलिष्ठश्च
अतो भुजबलेन नैव बद्धुं शक्यः इति सूच्यते ।

कः कोपोत्कटेति । को नाम त्रिभुवनमध्येऽस्ति यः कोपेन उत्कट-
शक्रचापसदृशो यो भ्रूमङ्गः—भ्रुकुटिमङ्गः तेन मोमं-भयकरम् आननं-मुप-
यस्य सुतम्, तस्या चञ्चल-चञ्चलश्रावणमनोहरो यः कृपाणः—सदृशस्तेन कृत्ता-
द्विन्ना या पृतना-विषक्षिसेना, तस्या असृग्बिन्दुभिः बधिरबिन्दुभिः,

विद्युत्कान्तिसदृक्समस्तसमरे चञ्चूर्यमाणं भृशं
भीष्मं भीमसमं प्रतापविजयं घर्तुं समर्थो भवेत् ॥१६॥

मानः—संभाव्यते अस्ति प्रतापो वीरः, परमिह तु महावीरा
एव सन्ति ।

प्रथी०—अलमुक्तिप्रत्युक्त्या । युष्माकं समरभूमिरेव निर्णायिका
भविष्यति ।

शक्ति०—युक्तम् । तदेव निर्णयस्थानम् ।

अरु०—शक्तिसिंह ! कथय प्रतापसविवे कियती सेना,
कीदृशी च घर्तते ।

शक्ति०—अयुतं क्षत्रियास्तत्र ग्बङ्गयुद्धविशारदाः ।

बाणविद्यासु निपुणा भिल्लमोणादयः परे ॥ १७ ॥

स्वल्पा अपि पर्वतारोहिणो धानुष्का एते असंख्यमपि
ते सैन्यं समूलं नाशयिष्यन्ति । अतः—

किमिति चित्रवर्णयुक्तम् । तथा विद्युत्कान्तिरिव समस्तसमरे पश्चिमोत्तरा-
दिभागावस्थितसकलसेनाया भृशमत्यन्तं चञ्चूर्यमाण—कौटिल्येन ब्रजन्त
भीष्मं भयंकर, यद्वा—स्वप्रतिज्ञापालने साक्षाद् भीष्मस्वरूप भीमसमं भीम-
बन्महाबलशालिनं प्रतापविजयं घर्तुं ग्रहीतुं समर्थो भवेत्, न कोऽपीत्यर्थः ।
अत्र पूर्वपदेन भयंकररूपवत्त्व, द्वितीयपदेन शत्रुनाशादिशौर्यकार्यकारित्वं
तृतीयपदेन सर्वव्यापकतया त्रासकारित्वं महापराक्रमशालितया आशु वैरि-
विनाशकारित्वं च, चतुर्थपदेन महाबलिष्ठत्वं स्वप्रतिज्ञानिर्वाहकत्वं च
बोध्यते । एतेन घोरसंकटदशायामपि न स्वातन्त्र्यं त्यक्ष्यति विजयं च
प्राप्स्यतीति बिन्दुरूपेणोपचिह्नं भवति ॥ १६ ॥

अथ शक्तिसिंहः प्रतापस्य सैन्यसंख्या दर्शयति—अयुतमिति । तत्र
प्रतापसेनाया लङ्गयुद्धे विशारदाः—प्रमत्तमाः, अयुत-दशसहस्रसंख्याकाः
क्षत्रियाः । परे—तदतिरिक्ताः, बाणविद्यासु निपुणाः शिबिता भिल्लमोणा-
दयः—भिल्लमोणादिजात्युद्भवाः सन्ति ॥ १७ ॥

शतधन्यो दशसंख्याः स्युस्तुपका द्वे सहस्रके ।

एवं सैन्यसमारोहे जयोऽस्माकं भविष्यति ॥ १८ ॥

पृथिवीसिंहः—(मनसि) आ; ! किमसौ भेदस्फोटनं करोति ।

अकबरः—साधु शक्तिसिंह ! साधु । त्वया सभ्यमार्गं
आदिष्टः । मानसिंह ! त्वयाऽपि सर्वसैन्यसमारोहेण
सहाभिगन्तव्यम् । अहमपि अजमेरस्थितो भूत्वा
सर्वं यथावसरं संपादयिष्ये ।

(इति सर्वे युद्धोद्युक्ता निर्गच्छन्ति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इतोऽधित्यकायां स्थितः प्रतारः स्वसामन्तादिभिः परामृशति ।)

(ततः प्रविशति आगरातः समायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापः—कथय यवनाधिराजवृत्तान्तम् ।

चारः—स खलूद्विग्नोऽपि स्वनीतिनैपुण्येनात्मानमनुद्विग्नमिव
प्रकाशयति ।

स इदानीं मानस्यैवापमानं मुहुर्मुहुः सभायां वदति ।

स्वल्पा इति । पर्वतारोहित्वात् घातुष्कत्वाच्च दूरत एव स्वल्पा
अप्येते ते सैन्यं नाशयिष्यन्ति, तेषां नाशोपायस्य तत्र भवत्सविषेऽभावात् ।
अथ तन्नाशोपायं बोधयति । अतः—अस्मात्कारणात्तेषां पर्वतारोहित्वेन
दूरत एव युद्धकारित्वात् भवदुक्तसेनासंरोहादिदमधिकमस्तु ।

तदेव बोधयति—शतधन्य इति । शतमपि धनन्तीति शतधन्यः 'तोप'
इति लोके प्रसिद्धम् । ता दशसंख्याकाः स्युः । एवं तुपकश्चपिमणीतत्वात्तुपका
'बन्दूक' इति लोके प्रसिद्धम्, द्वे सहस्रके—द्विसहस्रसंख्याका भवन्तु । एवं
सैन्यसमारोहे—मुसज्जितसैन्ययात्रायामस्माकं जयो भविष्यति । यद्येवं न
करोषि तदा जयो नैव भविष्यतीति तदाशयः ॥ १८ ॥

अथ आगरातः समायातश्चारः अकबरवृत्तान्तं कथयति—त्वच्छौर्यात्
भीतभीतः—अत्यन्तभययुक्तः, संप्रभे भयभयत् अत्यभयानो ज्ञेच्छौराजः
सभायां मुहुर्मुहुः मानस्यैव अपमानं वदति ।

प्रता०—कपटकलाकुलीनो धूर्तोऽसौ ।

चारः—अथैकदा तेन सलीममानसिंहसगरादिप्रधानभटा-
नाहूय जीवन्तं भवन्तं ग्रहीतुं बहुतरं प्रलोभनमदायि ।
परं तु सर्वे तच्छ्रुत्वा मौनमेवावस्थिताः । किन्तु सलीम-
मानसिंहो स्वीद्व्यं प्रकटयन्ती भवद्भूमलिप्सया
भवन्तं ग्रहीतुं प्रतिजानाते स्म ।

प्रता०—आः ! कोऽयं स्वाभिमानशून्यो मानः ।

विक्रीय गौरवमणिं मरणस्य भीत्या

यो म्लेच्छराजमनुगच्छति सेवमानः ।

सोऽयं क्षितिं समभिकाङ्क्षति यत्तदेनं

युद्धे क्षितिं स्वभुजदण्डबलेन नेष्ये ॥ १६ ॥

सालुम्वः—(किञ्चिद्विद्विष्य) वकोऽपि हंसगतिमृच्छति । यदयं
सलीमोऽपि भवता सह योद्धुमभिकाङ्क्षति ।

अस्य मेदनीतेः कौटिल्यमवगत्य प्रतापः कथयति—कपटकलेत्यादि ।

पुनश्चारः कथयति—क्षितिलिप्सया मानस्त्वां ग्रहीतुं प्रतिजानीते
इति, माननामश्रवणमाश्रतः कुप्यन्प्रतापः कथयति—आः इति । आः
इत्युपेक्षायाम्, स्वाभिमानेन—क्षत्रियत्वार्यत्वाद्यभिमानेन शून्यः कोऽयं
मानः अयं तु सर्वथा उपेक्षणीय एव अकिञ्चित्करश्च ।

विक्रीयेति । यो मानः मरणस्य भीत्या—अकबरविरोधे संग्राममरण-
मयात् गौरवमणिं—स्वकीयक्षत्रियत्वादिगौरवरूपं मणिं विक्रीय अकबर-
स्यैव सविधे इत्यर्थः, म्लेच्छराजं—म्लेच्छाधिपतिं सेवमानः सन् अनु-
गच्छति—अनुसरति, म्लेच्छराजत्वेन नीचाधिपतित्वं तस्य सूच्यते । ततश्च
तस्सेवनं तदनुसरणं च महदनुचितमिति मानस्य कातर्येण अनौचित्यका-
रित्वं चोतयति । सः अयं मानो यद्यस्मात्कारणात्क्षितिं—पृथिवीं समभिका-
ङ्क्षति तत्तस्मात्कारणादेनं मानसिंहं युद्धे स्वभुजदण्डबलेन—स्वकीयवा-
हुबलेन क्षितिं नाशं नेष्ये, क्षितिमभिकाङ्क्षतेऽस्मै स्वभुजदण्डेन क्षितिं
दास्यामि ॥ १६ ॥

प्रता०—मुखोऽसौ, न जानाति युद्धभूमिर्वीराणामेवागमनस्थानम्
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं भवतो यथावस्थितं शौर्यं निरूप्य पृथ्वीसिंहे-
नोक्तम् । युवयोः शौर्यस्य संग्रामभूमिरेव निर्णायिका
भविष्यति ।

प्रता०—साधु साधु । पृथ्वीसिंहेन युक्तमेवोक्तम् ।
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं लक्षादप्यधिकसुभटसंयुतं हस्त्यरवशतघ्न्या-
दिसंहितं तत्सैन्यं प्रचलितम् ।

प्रता०—कस्तत्र सेनापतिः ?

चारः—सलीमः ।

प्रता०—बालोऽसौ कथं सेनापतिः कृतः ?

चारः—नाममात्रतोऽसौ सेनापतिः ।

प्रता०—तर्हि मानसिंहः कः ?

चारः—मानसिंहः सर्वस्वमेव । स तु सेनायाः सेनापतेश्च संरक्षकः।
एतदभियानस्य मानसिंह एव कारणम् ।

प्रता०—इदं तु विदितमेव, परं कथमसौ बालस्याधिपत्यं
स्वीकरोति ? सर्वमपि क्षत्रियवंशगौरवमनेन परित्यक्तम् ।
अस्तु, अथ यवनाधिपतिः कुत्र निवसति ?

चारः—सोऽपि द्वितीयामभिनवसेनां प्रदाय इतः किञ्चद् दूरे
अजमेरपत्तने स्थितः । तदागमनानन्तरमेवाहमिहा-
यातः । मन्ये पञ्चपैरेव दिनैः प्रथमं तत्सैन्यमिहागमि-
ष्यति । अतः परं भवन्तः प्रमाणम् ।

अकबरसैन्यागमनध्वजसमनन्तरमेव प्रतापभटानां कृत्यं दर्शयति—
अहमिति । विक्रमेण-परामर्शेण उद्भटाः-महानराक्रमशालिनः सोत्साहाः-
परमोत्साहयुक्ताः सर्वे पत्यश्ववारधानुष्कादयः अहंपूर्विकया पूर्वमहं गमि-
ष्यामि, नहि नहि त्वं तिष्ठ पूर्वमहमाक्रमिष्यामि इत्यहंपूर्विकया अहं पूर्व-

(अथ प्रतापसहायका रणोद्भटा गर्जन्ति । अहंपूर्विकया स्वस्वकर-
वालमादाय क्षुब्धयन्ति ।)

अहंपूर्विकया सर्वे सोत्साहा विक्रमोद्भटाः ।

शैलस्थिताः प्रतीक्षन्ते शत्रोरागमनं मुहुः ॥ २० ॥

प्रता०—सेनापते ! अत्रेदं युज्यते, वयं सर्वे सैनिकाः कोमल-
मीरपर्वतस्याधित्यकायां स्थिताः सन्तः शत्रोरागमनं
प्रतीक्षेमहि । इह हि शत्रोराक्रमणं सहसा नैव संभाव्यते ।

यतः—अन्तः प्रवेष्टुं सरणिलक्षिष्ठा

यया चरन्तोऽरिभटाः क्रमेण ।

महोपलानामतिवर्षणेन

शरव्रजैर्नाशयितुं च शक्याः ॥ २१ ॥

सर्वे—मुयोग्यमिदं स्थानमस्मद्रणभूमे ।

(इति हल्दी घाटातटे गन्तुं सर्वे परिक्रामन्ति ।)

पटोन्नयनम्

(इतोऽजमेरुत्तने स्थितः समरवृत्तान्तपरिज्ञानाय समुद्दिग्मना

अकबरश्चिन्तयति ।)

महं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः । मुहुर्वारं वारं शत्रोरागमनं
प्रतीक्षन्ते ॥ २० ॥

अथ प्रतापो हल्दीघाटोत्तमभिलक्ष्य सेनापतिं कथयति, इह हि शत्रो-
राक्रमणं नैव संभाव्यते । तदेव दर्शयति—अन्त इति । अन्तः प्रवेष्टुम्
अत्रान्तरागन्तुं सरणिः पदतिलक्षिष्ठा-अतिस्वल्पा, यया सरण्या चरन्तो
गच्छन्तोऽरिभटाः क्रमेण आगमनक्रमेण महोपलानां वृहत्पाषाणानामति-
वर्षणेन तेषामुपरि सहसा अविरतनिपातनेन शरव्रजैर्बाणसमूहैः सर्वेषां
धानुष्काणां सामूहिकतया बाणनिपातनेन नाशयितुं शक्याः । एवं प्रकारेण
सर्वे घातिता भविष्यन्तीति भावः ॥ २१ ॥

अथाकबरः 'स्नेहः खलु पापशङ्कीति समरवृत्तान्तस्यापरिज्ञानान्मान-
सलीमयोरनिष्टमुद्भावयंस्तर्कयति—मानः इति । अतिभयात् स्त्रियमाणं

अक०—(मनसि) कथमद्यापि समरभूमेर्न कोऽपि समायातः । आः !
परमपराक्रमशालिनो मेधाढीयाः, तेषु प्रतापस्वयतिवि-
क्रमशाली । तत्र

मानोऽनेन निपातितः किमभवत्किं वा सलीमो हतो

दुर्धोरस्य जये कथं सुतमहं सैन्याधिपत्ये व्यधाम् ।

हा अल्लाः ! स परावृत्तो यदि भवेत् दिष्ट्या रणादक्षतः

सत्यं तर्हि शपामि नैव समरे तं प्रेषयिष्ये पुनः ॥२२॥

कथं विभ्रान्तमनसा नियुक्तः स्वसुतो मया ।

हनने ग्रहणे तस्य विडालस्य यथोन्दुरुः ॥ २३ ॥

(ततः प्रवशति दौवारिकः ।)

दीवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापं प्रत्यक्षमिव मन्यमान इदशब्देन कथयति । अनेन प्रतापेन किं
मानो निपातितो मारितोऽभवत्, किं वा सलीमो हतः । दुष्टा धीरस्य सः,
दुर्बुद्धिरहम् अस्य प्रतापस्य, यद्वा—दुर्धोरस्य प्रतापस्य जये सुतं सलीमं
सैन्याधिपत्ये कथं व्यधाम् । सैन्याधिपतौ हते सति सर्वे स्वयमेव हता
भवन्तीति सैन्यपतिमेव प्रथम सर्वे हिंसन्तीति तदुत्तापः । अतः—आत्मनो
लाः दाता गृहीता वेति अल्लाः । ला आदाने दाने च क्विप्
प्रत्ययः । हा अल्लाः । हा इति खेदे, हे कल्याणकारिन् ! अल्लाः पर-
मेश्वर ! यदि सः मम सुतः दिष्ट्या—ममैव शुभप्रारब्धोदयाद् रणात्सं-
ग्रामाद् अक्षतः—त्रणरहितः परावृत्तो भवेत्, तर्हि सत्यं शपामि—सत्यं यथा
स्यात्तथा शपथं करोमि यद्वा,—सत्यमेव शपामि । सत्यस्यैव शपथं करोमि,
पुनः अतः परं कदाचिदपि तं सुत समरे संग्रामे नैव प्रेषयिष्ये ॥ २२ ॥

पुनरुद्विग्नः सन् कथयति—कथमिति । विभ्रान्तं मनो यस्य सः
तेन । ज्ञानशून्येन मया विडालस्य उन्दुर्ध्वया, विडालस्य हनने ग्रहणे
मूक इव तस्य प्रतापस्य हनने ग्रहणे स्वसुतः कथं नियुक्तः । प्रतापस्य
विडालसदृशतया स्वसुतस्य मूकतुल्यत्वेन कथनात्प्रतापसमर्द्धं गमनान-
न्तरमेव स हतो भविष्यतीति चिन्तातिशयो चोच्यते ॥ २३ ॥

(अक्रवरोऽन्यमनस्कृतया विलोकयन्नेव स्थितः ।)

दौवा०—महाराज ! समरभूमिओ जुम्भुत्तंतवाहओ दुआरि
महाराज ! समरभूम्या युद्धवृत्तान्तवाहको द्वारि
चिट्टइ ।
तिष्ठति ।

अक्र०—प्रवेशय ।

(ततः प्रविशति दौवारिकेण सह चारः)

चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः ।

अक्र०—कथय, सलीमोऽपरिद्धतस्तिष्ठति ?

चारः—भवतां पुण्यकर्मप्रभावतोऽपरिद्धत एवासी ।

अक्र०—सैन्यगमनमारभ्य निःशेषं वृत्तान्तं कथय ।

चारः—सलीमसैन्याधिपत्ये प्रचलितं त्वदीयं सैन्यं कोमलमीर-
पर्वतोपत्यकामधिजगाम । तत्र स्थित्वा शत्रोरासार-
प्रसाराववारीत्सीत् ।

अक्र०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं शत्रवो रात्री आक्रम्य बहून्सैनिकान् हत्वा
स्वाद्यसामग्न्यो विलुण्ठ्य न जाने केन मार्गेण पलायन्त ।
तदनन्तरमुदयपुरं गन्तुं संकीर्णेन पर्वतमार्गेण कति-
चित्सैनिका अन्तः प्रविष्टाः परं न ते परावृत्ताः किन्तु
तत्रैवावरुध्य सर्वेऽपि विनाशिताः ।

अक्र०—ततस्ततः—

अन्यमनस्कृतयेति । स्वमुतस्यानिष्टसंभावनया शोकाकुलतया
विन्तनादन्यमनस्कृता । अपरिद्धत इति । सकलवृत्तान्ततः पूर्वं सलीमस्य
कल्याणं पृच्छति । न परिद्धतः अपरिद्धतः । सलीमो ब्रूयितस्तु न जात
इत्यर्थः ।

चारः—तदनन्तरं पुनरपि अन्ये प्रेषिताः, तेऽपि तथैवावरुध्यं
विनाशिताः । यदा नैकोऽपि तेभ्यः परावृत्तस्तदा
सर्वेऽपि ससैनिका मानप्रभृतयस्तदन्तः प्रविष्टाः । ते
यथाकथंचित्संकीर्णमार्गान्निःसृत्य हल्दीघाटीचत्वरे
उपागता आसन् ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः प्रतापाज्ञासमनन्तरमेव—

मन्नासालुम्बकाद्याः समरसुचतुरा लब्धभूरिप्रतिष्ठा
युद्धोद्युक्ताः ससैन्या अहमहमिकया दवेडयन्तः समन्तात् ।
युष्मत्सैन्यं गलीतुं क्षणमपि बहुशो मन्यमानाः समस्ताः
स्वं खड्गं भ्रामयन्तो विपुलतरभटां वाहिनीं ते निजघ्नुः ॥२४॥

इति सहसैव तेस्ते बहुतरा सेना विनाशिता ।

पर्वतप्रान्ताच्च—

वाणाः पन्नगभाः फणाकृतियुताः फुंकारशब्दाकुलाः

कायस्पर्शनमात्रजीवहरणप्राप्तप्रतिष्ठा दृढाः

अथ चारः प्रतापाज्ञासमनन्तरं तत्सैनिकानां कार्यं वर्णयति—मन्नेति ।
समरेषु सुचतुराः—संग्रामकलाज्ञातारः, लब्धा भूरि प्रतिष्ठा यैस्ते-विजि-
तविविषसंग्रामाः, युद्धोद्युक्ताः—युद्धसंनदाः ससैन्याः—स्वरवसेनासहिताः ।
एतेन तेषां सामन्तत्वं सूच्यते । अहमहमिकया समन्तात्दवेडयन्तः, अह-
मेव पूर्वं गमिष्यामि अहमेव पूर्वं गमिष्यामि इत्यादिवचनैः सर्वतो
गर्जन्तः युष्मत्सैन्यं गलीतुं—युष्मत्सेनाया निगरणं कर्तुं, क्षणमपि बहुशो
मन्यमानाः—क्षणात्रमपि विलम्बमसहमानाः समस्ताः सर्वेऽपि मन्नासालु-
म्बकाद्याः—मन्नासालुम्बादिनामानः, स्वं रड्गं भ्रामयन्तः सन्तः, विपुल-
तरा भटा यस्यां सा तथाभूतां ते तव वाहिनीं—सेनां निजघ्नुः—निहतवन्तः ।
विपुलतरभटत्वेन शौर्यशालिनीत्वं तस्याः सूच्यते, तद्दहनने च प्रतापसैनि-
कानामतिशौर्यशालित्वं व्यज्यते ॥ २४ ॥

जिह्वामुचविषा महाभयकराः दीर्घा मरुद्गामिनः

क्षिप्रं त्वत्सुभटान् रणाङ्गणगताञ्जघ्नुः सहस्रं ततः ॥२५॥

अरु०—ततस्ततः—

चार—ततो वाणनिपतनसमनन्तरमेव सेनापतेराज्ञया त्वदीय-
सेनातश्च

आसन्नल्पमहामहाधनघटाघोरायमाणस्वन

निर्मर्यादसमुद्रभीमनिनदप्रोत्तुङ्गघांकारिकाः ।

द्यावाभूमित्तमिस्त्रनीलवसनप्रस्तारिका विश्वतो

वर्षन्त्यो गुलिकास्ततः प्रचालताः सर्वाः शतघ्न्यः परा ॥२६॥

अथ बाणवर्णनमाह—बाणा इति । ततस्तदनन्तरं पन्नगाः—सर्पास्त-
द्ब्रू माः कान्तियेषां ते, कृष्णवर्णाः सर्पा विपधरा भवन्ति, लौहनिर्मितत्वात्
बाणा अपि श्यामवर्णा भवन्ति । तथा पण्याकृतियुताः—फणाकारयुक्ताः
क्षुराकारार्धचन्द्राकाराणां बाणानां तथात्वात् । फुकारशब्देन आकुला
ध्याताः पक्षयुक्तत्वेन फुकारशब्दयुक्ताः, तथा कायस्पर्शनमात्रेण जीवहरणे
मात्रे प्राप्ता प्रतिष्ठा येषां ते तथा महाविपधरत्वात्, महाविषे विध्मापित-
त्वाच्च । दृढाः युवावस्थामायत्नाः उत्तमवानुष्कप्रेरितत्वात्कार्यकरणसमर्थाः ।
जिह्वया मुक्त विष यैस्ते, सर्पं जिह्वाया अवस्थितघटिकया विष
त्यजति, अन्यत्र—जिह्वया अग्रभागेन मुक्तं विष यैस्ते, तथा महाभयस्य कराः—
अत्यन्तभयारहाः, दीर्घाः—दीर्घाकाराः, मरुदिव गन्तुं शील येषां ते तथा
शीघ्रगामिनः बाणाः रणाङ्गणगतान्—संग्रामचलरप्राप्तान्सहस्रं त्वसुभ-
टान् त्वदोषोत्तमभटान् जघ्नुः—हतवन्तः । अत्र विपधरसर्पैः सह बाणानां
साधारणघर्मत्वप्रतिपादनाद् यथा विपधरसर्पदष्टा जीवा हता एव भवन्ति,
एव बाणनिहतास्त्यदीयभटा मृता एव अभवन्निति व्यज्यते ॥ २५ ॥

अथ त्वदीयसेनापतेराज्ञया प्रचलिता शतघ्नीः प्रदर्शयति—आसन्न-
ति । ततस्तदनन्तर कल्पे—प्रलयसमये या महामहाधनघटा—अतिमहामेघ-
घटास्तद्बद् घोरायमाणः स्वनो यासा तास्तथा, निर्मर्यादो—मर्यादारहितो यः
समुद्रस्तस्य भीमनिनदस्तद्बद्प्रोत्तुङ्गघाकारिकाः तत्सदृशमतिउमुन्नतं घाम्

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण समयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता
आसन् । एतदवलोक्य प्रतापः क्रोधारक्तनयनस्त्वत्मन्ये
प्रविवेश । तत्र—

हस्ते खड्गं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंधं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिलति तव भटान् थं विलोक्यान्वमंस्त ।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छंश्चिच्छेद सर्वं कृपक इव महावीरसंधं क्षणेन ॥७॥
खड्गाखड्गि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महत् ।
कुन्ताकुन्त्यरववारेषु दारुणां सांपरायिकम् ॥ २८ ॥

इति शब्दं कुर्वत्यः, द्यावाभूमयोर्मध्ये अन्तराले तमिस्रमेव नीलवसनं तस्य
प्रस्तारिकाः । अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते ।
विश्वतः सर्वतो गुलिका वषन्त्यः—अविरलभावेन अनारतं क्षिपन्त्यः, पराः—
दत्कृष्टाः, सर्वाः शतध्न्यः प्रचलिता आसन् । युगपत्सर्वशतघ्नीनां प्रचल-
नाद् बहवः प्रतापसैनिका निपतिता मृताश्चासन्नित्यर्थः ॥ २६ ॥

यदा उभयसेनायां बहवो भटा निपतिता आसंस्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्व-
सेनायां प्रविवेश, इति तत्कृत्यं दर्शयति—हस्ते इति । हस्ते खड्गं
दधानो वीरसंधं विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराजः किमु
चरति । वा—अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्तव भटान् गिरति, तव
भटानां निगर्षणं करोति । क्षणमात्रतस्तव भटानां मरणेन तत्रादर्शनात्त्रि-
गर्षणं संभाव्यते इति यं प्रतापं विलोक्य लोकोऽन्वमंस्त अनुमिनोति स्म ।
अथ सः प्रतापरते सैन्यं दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासंनिवेशे,
अविशत्—प्रविवेश । तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रतः सर्वं महावीरसंधं
कृपक इव चिच्छेद । यथा कृपकः सर्वं सत्यादिकं क्षणेन क्षिपति तथैव
प्रतापोऽपि महावीरसंधं चिच्छेद । महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ २७ ॥

अथोभयसैनिकयोः कीदृग् युद्धमभूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयोः
सैन्ययोः खड्गाखड्गि—खड्गैश्च खड्गैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तामिति

श्रुत्वा—ततस्ततः—

चारः—वदनन्तरं कस्यचित्प्रतापभटस्य कवन्धस्य महदाश्व-
र्यकरं किमपि शौर्यं ज्यलोकि ।

श्रुत्वा सङ्घं कवन्धः क्षतजशवलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्मिन्दन् प्रघावश्चपलतरमसि चालयन्सर्वतो द्राक् ।
शौर्यं जहोदरं वाऽच्छिनत्खिलगरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्रान्यवं स वीरस्तव विपुलबलस्यै कसंहारकोऽभूत् ॥२६॥

सङ्घात्सङ्घं, तथा अश्ववारेषु कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्येदं
सुदं यत्तमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं मर्यकरं साररापिकं युद्धमा-
सत् ॥ २८ ॥

अथ चारः प्रतापसेनिकस्य कवन्धस्य कृत्यं दर्शयति—धृत्वेति । क्षत-
जेन—कविरेश, शवलितः चित्रवर्णोपितः, कवन्धः—शिरोरहितो देहः, सङ्घं
पूरा व्यूहमध्ये—स्वदीपसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्—कवन्धस्वभाव
एवैषः यदसौ यावन्न निपतति तावन्नुत्स्येव । मिन्दन्—स्वदीपमटात्ताश-
यन्, प्रघावन्—द्रुततरगतित्वात् धावन्निव प्रतिमाति । सर्वतरचतुर्षु दिक्षु,
द्राक्—सर्पदि, चपलतरमतिचञ्चल, यद्वा—चपलतरं यथा स्यात्तथा अश्वि
चालयन्, प्रबलतरक्रोधावेशशौर्यं समुद्रेकाः कुपितो वायुस्तथा कारयतीति
कवन्धस्वभावः । स च कवन्धश्छिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन्
कार्यं करोतीति दर्शयति । अरेः—शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शौर्य-
मस्तक तथा जहोदरं—जह्वा च उदरं च । प्राणवह्मत्वादेकवद्भावः ।
अच्छिनत् । अखिलमिति क्रियाविशेषणम् । अखिलं समस्तं यथा स्यारा-
याऽच्छिनत्—प्रबलतर—वायुप्रवेगाभिघातात्तथाऽच्छिनत् यथा द्विधैवामब-
दिस्येव स वीरः कवन्धः समन्तात्सैन्यचक्रं विद्रान्यं—इतस्ततः कृत्वा, तव
विपुलबलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः—संहारकर्ताऽभूत् । बहुतरसेनाविना-
शस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥

। अथि बहवस्तदीपमटास्वदीपसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति-
। रावदेकः प्रथमः कवन्धो न निपतति तावद्वन्तः अन्य-

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण उभयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता
आसन् । एतदवलोक्य प्रताप क्रोधारक्तनयनस्त्वत्मन्ये
प्रविवेश । तत्र—

हस्ते सङ्घं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंघं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिरति तव भटान् यं विलोक्यान्वमस्त ।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छंश्चिच्छेद सर्वं कृपक इव महावीरसंघं क्षणेन ॥२७॥
खङ्गासङ्घि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महन् ।
कुन्ताकुन्त्यश्ववारेषु दारुणं सांपराधिकम् ॥ २८ ॥

इति शब्द कुर्वन्त्यः, चावामुभयोर्मध्ये अन्तराले तमिस्रमेव नीलवसन तस्य
प्रस्तारिका । अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते ।
विश्यत सर्वतो गुलिका वपन्त्य—अविरलभावेन अनारत क्षिपन्त्यः, परा—
उत्कृष्टाः, सर्वा शतध्न्यः प्रचलिता आसन् । युगपत्सर्वशतध्नीना प्रचल-
नाद् बहव प्रतापसैनिका निपतिता मृताश्चासन्नित्यर्थः ॥ २६ ॥

यदा उभयसेनायां बहवो भटा निपतिता आसस्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्व-
त्सेनायां प्रविवेश, इति तत्कृत्य दर्शयति—हस्ते इति । हस्ते सङ्घं
दधानो वीरसंघं विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराज किमु
चरति । वा—अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्तव भटान् गिरति, तव
भटानां निगरणं करोति । क्षणमात्रतस्तत्र भटानां भरणेन तत्रादर्शनाग्नि-
गरणं समाव्यते इति यं प्रतापं विलोक्य लोकोऽन्वमस्त अनुमिनोति स्म ।
अथ स प्रतापस्य सैन्यं दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासन्निवेशे,
अविशत्—प्रविवेश । तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रत सर्वं महावीरसंघं
कृपक इव चिच्छेद । यथा कृपकः सर्वं सस्यादिकं क्षणेन क्षिणति तथैव
प्रतापोऽपि महावीरसंघं चिच्छेद । महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ २७ ॥

अयोभयसैनिकयोः कीदृग्युद्धमभूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयो
सैन्ययोः खड्गालङ्घि—खड्गैश्च खड्गैश्च प्रहत्य इदं युद्धं प्रवृत्तामिति

अक०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं कस्यचित्प्रतापभटस्य कबन्धस्य महदाश्र-
यकरं किमपि शौर्यं व्यलोकि ।

धृत्वा खड्गं कबन्धः क्षतजशवलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्भिन्दन् प्रधावंश्चपलतरमसिं चालयन्सर्वतो द्राक् ।

शीर्षं जङ्घोदरं वाऽच्छिनदखिलमरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्राव्यैवं स वीरस्तव विपुलबलस्यैकसंहारकोऽभूत् ॥२६॥

खड्गाखड्गि, तथा अश्ववारेषु कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्येदं
युद्धं प्रवृत्तमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं मयंकरं साररायिकं युद्धमा-
सीत् ॥ २८ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकस्य कबन्धस्य कृत्यं दर्शयति-धृत्वेति । क्षत-
जेन-रुधिरेण, शवलितः-चित्रवर्णोपेतः, कबन्धः-शिरोरहितो देहः, खड्गं
धृत्वा व्यूहमध्ये-त्वदीयसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्-कबन्धस्वभाव
एवैषः यदसौ यावन्न निपतति तावन्नृत्यत्येव । भिन्दन्-त्वदीयमटाश-
यन्, प्रधावन्-द्रुततरगतित्वात् धावन्निव प्रतिभाति । सर्वतश्चतुषु दिक्षु,
द्राक्-सपदि, चपलतरमतिचञ्चलं, यद्वा-चपलतरं यथा स्यात्तथा अति
चालयन्, प्रबलतरकोधावेशशौर्यसमुद्रेकात्प्रकुपितो वायुस्तथा कारयतीति
कबन्धस्वभावः । स च कबन्धश्छिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन्
कार्यं करोतीति दर्शयति । अरेः-शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शीर्ष-
मस्तकं तथा जङ्घोदरं-जङ्घा च उदरं च । प्राणयङ्गत्वादेकवद्भावः ।
अच्छिनत् । अखिलमिति क्रियाविशेषणम् । अखिलं समस्तं यथा स्यात्ता-
याऽच्छिनत्-प्रबलतर-वायुप्रवेगाभिघातात्तथाऽच्छिनत् यथा द्विघैवाभव-
दित्येव स वीरः कबन्धः समन्तारसैन्यचक्रं विद्राव्य-इतस्ततः कृत्वा, तव
विपुलबलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः-संहारकर्ताऽभूत् । बहुतरसेनाविना-
शस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥

मृता अपि बहवस्तदीयमटास्त्वदीयसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति-
न यावदिति । यावदेकः प्रथमः कबन्धो न निपतति तावदन्यतः अन्य-

न यावन्निपतत्येकः कबन्धस्तावदन्यतः ।

उत्थाय तव सेनायां प्रविश्याहन्सहस्रशः ॥ ३० ॥

अक०—महदेव तत्सैनिकानां शौर्यम् । शौर्यसमुद्रेकादेव
कबन्ध उत्तिष्ठति । वाढमियं मेवाढभूमिर्वीरप्रसविनी ।

ततस्ततः—

चारः—तदन्तरा प्रतापः स्वकीयं चेतकमश्वमितस्ततो
भ्रामयम् कमपि मृगयमाण इवासीत् । स च यत्रैवायाति,
तत्रैव त्रस्ता इव भवदीया भटाः पलायमाना आसन् ।
तान्प्रलोक्य प्रताप एवमवादीत्—

क्षुद्रास्त्रासं जहीत द्विपरदनभिदो मामकोऽसौ कृपाणो
युष्मद्देहेषु लज्जां चरति निपतने मा पलायध्वमस्मात् ।
शक्ते ! त्वं तिष्ठ तावन्न खलु मम रूपो भाजनं चासि, किन्तु
क्षत्रज्ञातिं द्विपन्तं मलिनहृदमहं मानमन्वेपयामि ॥ ३१ ॥

अक०—तदानीमसौ मानः कुत्रासीत् ?

स्मात्प्रानादुत्थाय ततोऽपर उत्थायेत्यर्थः, तव सेनायां प्रविश्य सहस्रशः
अहन् । अहन्निति हन्घातोर्लङि रूपम्, अवघोदित्यर्थः ॥ ३० ॥

अथ चारः प्रतापस्य शौर्यातिशयं दर्शयति—क्षुद्रा इति । भो भो
मम मयेन पलायनरत्नात्क्षुद्राः यूयं त्रासं जहीत—त्यजत । तत्र हेतु
प्रदर्शयति—मामको—मदोयोऽसौ कृपाणः युष्मद्देहेषु निपतने लज्जा
चरति । अस्मात्कारणात् मयं मा पलायध्वम् । हस्तिदन्तच्छेदादिवृह-
त्कार्यकर्मत्त्वङ्गस्य क्षुद्रेषु मृदुलतरयुष्मद्देहेषु निपातो लज्जास्पदमेवेति
न युष्मानहं हनिष्यामीति फलितं भवति । हे शक्ते ! त्वं तिष्ठ, ताव-
दिदानीं त्वं मम रूपः—मम क्रोधस्य भाजनं न च नैवासि, नेदानीं त्वां
हन्तुमहमुद्युक्तोऽस्मीति भावः । किन्तु क्षत्रज्ञातिं द्विपन्तं—स्वकीयस्यैव
क्षत्रज्ञातेर्द्वेषारं, मलिनहृदं—मलिनं हृदयं हृद्—यस्येति तं मलिनचित्त
मानं—मानसिहम् अन्वेपयामि—मृणयामीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकानां कृत्यं वर्णयति—एकस्मादिति । एक-

चारः—न जाने क्वासौ अन्तर्हितः, किन्तु सर्वसेनायाः पश्चाद्भागो एव स्थित आसीदिति संभावयामि ।

अक०—किमसौ प्रतापाद्विभेति ?

चारः—युज्यते चैतत्कथमन्यथा सर्वसेनायाः पश्चाद्भागो एव स्थितोऽभवत् ।

अक०—अस्तु, ततः किमासीत् ?

चारः—ततो रणोद्भटाः प्रतापभटास्त्वदीयसेनामाक्रान्तवन्तः ।

एकस्मात्करवालचालनपटुः शोणिर्गुरु स्थानत-
श्चन्द्रावत्परतोऽच्छिनत्तव भटान्स्वं चन्द्रहासं क्षिपन् ।
सालुम्बोऽपि विलुम्पयन् रणकथां वीरान् विचिन्वन्पुन-
र्मन्नाख्यश्च तरक्षुरेव विभिदे व्यूहं प्रविश्यान्तरा ॥ ३२ ॥

अत्रान्तरे ग्वालियरक्षितीशः

श्रेष्ठैर्मतैः स्वैः सहितो दधात्र ।

सैन्यं त्वदीयं सहसा विदीर्यं

जयध्वनिं केसरिवच्चकार ॥३३॥

स्मात्स्थानतः करवालचालनगुरुः—खड्गशिक्षकः शोणिः—शोणिनामको गुरुः, परतो द्वितीयस्मात्स्थानाच्चन्द्रावन्नामकः सामन्तः स्व-स्वकीयं चन्द्रहासं क्षिपन्सन् तव भटानच्छिनत् । पुनः सालुम्बोऽपि रणकथा विलुम्पयन् सग्रामवार्तामेव समाप्नुवन्, सर्वेषां विनाशे स्वत एव रण-वार्ताया विनाशो भविष्यति इति सर्वानेव नाशयन्निति व्यज्यते । वीरान्वि-चिन्वन् पुष्पचयनमिव यथा मालाकारः कलिका विहाय पुष्पाण्यवचि-नोति । एव सालुम्बोऽपि कातरान् विहाय वीरानेव मारयन्, मन्नाख्यश्च साक्षात्तरक्षुरेव अन्तरा—सेनाया मध्ये, प्रविश्य व्यूहं विभिदे, तथा द्वावपि हतवन्तौ येन सेनासन्निवेशः स्वत एव चिच्छेद इत्यर्थः ॥३२॥

अत्रान्तरे इति । व्यूहभेदनसमनन्तरमेव श्रेष्ठैरुत्तमैः स्वैः स्वकी-यैर्मतैः सहितः ग्वालियरक्षितीशः—ग्वालियरप्रदेशाधिपतिः दधात्र सोऽपि

अक०—ततस्ततः—

चार—तदनन्तरमेव—

यात कोऽपि घटोत्कचाकृतिसमो दन्तावलानां बले
तेषां मूलकवन्महीरुहभुजातुल्यान् करान्सोऽच्छिनत् ।
प्रस्तस्तेन भवन्मतङ्गजगणः स्वां वाहिनीं तर्जयन्
मृद्मश्चापि निषादिनोऽप्यगणयन् पश्चात्पलायिष्ट स ॥३४॥

अक०—ततस्ततः—

चार.—तदनन्तर कबन्धशौर्यतो विप्रस्यमान सहसा सालुम्बा
दीनामाक्रमणत लुभ्यमाण गजादीनां मर्दनादुद्विजमान
भवत्सैन्यं गजे सहैव पलायितम् ।

अक०—आ व्यर्थमेव मदोन्मादिना मया सर्पं क्रीडितुमभिल
षितम् । नैतदवगत, यत्प्रतापान्मानो विभेति । अस्तु,
ततस्ततः—

चार—तदनन्तर पलायमान स्वसैन्यमवलोक्य सलीमप्रभृतयो
विमनस्का इवासन् । किन्तु शाहवाजस्त्वदीय

आक्रमतेत्यर्थं । सहसा त्वदीय सैन्यं विदीर्यं केसरिवत्—सिंह इव जपध्वनि
चकार । स च त्वदीयसैन्यपराजयं मत्वा सिंहवज्रगजेत्यर्थं ॥ ३३ ॥

अथान्यस्य सैनिकस्य कृत्यमाह—यात इति । घटोत्कचस्य आकृतिरिव
आकृतिरस्य स तथाभूत कोऽपि अशतनामाप्रतापसामन्त दन्तावलाना-
हस्तिना बले—सेनायां यान—प्राप्तोऽभूत् । स तेषां हस्तिनां महीरुहभुजा-
तुल्यान् वृक्षबाहुषट्टयान् करान्—शुण्डादण्डान्, मूलकवद् अच्छिनत्—
अनायासेनैव तार्श्वच्छेदेत्यर्थं । ततस्तदनन्तरं तेन शुण्डादण्डच्छेदन
कर्मणा प्रस्तो भयभीतो भयमतङ्गजगणो—भवद्हस्तिणमूह, स्वा-
स्वकीयां वाहिनीं—सेनां तर्जयन् मृद्मश्चापि मर्दयन् निषादिनोऽपि—हस्ति
पकानि अगणयन्—तेषामह्नुशवचनप्रयोगममानयन्, द्राक्—भटिति,
पश्चात् पलायितोऽभूत् । प्रस्ता हस्तिणमूह स्वसेनाभिमुखमेव पलायितो-
ऽभूत् चेन ते वाहिनीं मर्दितेत्यर्थं ॥ ३४ ॥

उपसेनापतिः सेनामध्ये प्रविश्य यश पटहमवादीत्,
अकथयच्चैतत्-भो भो सैनिका मा पलायध्वम्, यत-
श्रीमानकवरः स्वयमेवासंख्यातां सेनामादाय समराङ्गणे
समुपतिष्ठते ।

अक०—साधु, साधु युक्त एव तेन सेनाञ्जलनप्रयोग आरब्धः ।
मन्ये स फलित एवाभवत् ।

चार. —अथ किम् । ततस्तड्ढकाशब्दश्रवणानन्तरमेव सर्वमपि
सैन्यं पुनः परावर्तत । फलितञ्च तस्यायं तन्त्रप्रयोगः ।
ततः पुनरपि ततोऽप्यधिकतरं सोत्साहं ते बल युयुधे ।

अक०—ततस्तत —

चार —ततो व्यूहे भग्ने विनाशिते बहुतरे त्वदीये सैन्ये सली-
मगज. प्रतापदृग्गोचरो बभूव । अथात्रैव मान इति
मन्यमान प्रताप सोत्साहं कपोते श्येन इव तदुन्मुखं-
चेतकं स्ववाजनं चिक्षेप ।

अक० आः सलीम ! ममैवायं दोषः, यत्त्वां कातरहस्ते सम-
र्पितवान् । ततस्तत —

चारः—तदन्तरा सेनापतिरक्षका पञ्च शतं भटा प्रतापं रोद्धुं
प्रहीतुं मारयितुं च समुपस्थिताः, परंतु न जाने स
कथं केन कदा च सर्वानेव चिच्छेद । आः परमसाहसि-
कोऽसौ । चेतकोऽपि परमशिक्षित एव ।

अक०—ततस्ततः—

चार —अथ गजोन्मुखं क्षिप्रश्चेतक उत्प्लुत्य सलीमगजकुम्भा
न्तरे पटद्वयं निधाय स्थित आसीत् । प्रतापोऽपि तत्र
गच्छन्नेव हस्तिपकशिरश्चिच्छेद । कोऽयं ममोपरि समा-
पतित इति मन्यमानो गजोऽपि तत्रसे ।

अक०—आः सलीमोऽपि किं हतः ? हा मम जीवनसर्वस्व !
हा ममाहापरिपालनपरित्यक्तप्राण ! हा प्रजावत्सल !

(इति ब्रुवन् क्षणं मूर्च्छति ।)

चारः (सोद्वेगं तालवृन्तमादाय उद्बोधयति । उद्बुद्धः सन्)

अक०—सलीमः किं हतः ? कथय कथय स्वरितं किमिति
नोच्यते ।

चारः—महाराज ! कुमारस्तु अपरिच्छत एव । भवान् किमि-
त्युद्विजते ।

अक०—(सभुञ्ज्वस्य) कथय, स च कथं केन रक्षितः ?

चारः—गजशाससमनन्तरमेव चैतको भूमाववततार । परं
प्रतापश्चेतकं पुनः परावृत्त्य तथैव गजकुम्भान्तरे
चिक्षेप । पुनः प्रतापेन चालितः करवालः सलीममञ्चं
चिच्छेद । सलीमश्च तदन्तरा एव निलीनः । परं तु हतः
सलीम इति सेनायामुद्घोष आसीत् । ततो हा सेनापते !
हा महाराजाधिराजप्राणप्रिय ! हा युवराज ! इति
त्वदीयसैनिका विलपन्तो रुरुदुः । हस्तिपकशून्य-
स्त्रस्तरच स गजः सलीममादाय बहुतरदूरं पलायिष्ट ।

अक०—(मनसि) अलमुद्धतशौर्येण, कातरोऽपि सन् जीवतु । नाह-
मतः परं प्रतापसंमुखे त्वां प्रेषयिष्यामि ।

(प्रकाशम्) ततस्ततः

चारः—ततस्त्वदीयभटाः प्रतापं रुरुधुः । गृह्यतां वा हन्यतां
वा एषः. मा पलायतामिति वदन्तः प्रतापं ग्रहीतुं हन्तुं
चोद्युक्तवन्तः । उद्बुष्ट सेनायाम् सलीमो जीवतीति ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततो भवत्सैनिकैः सर्वतश्छन्नं प्रतापमवलोक्य सालुम्ब-
कृष्णारावमहेश्वरसिंहप्रभृतयस्तदीयभटाः प्राणपण्येन
तमुद्धर्तुमयतन्त । सहस्रशस्त्वदीयभटांश्छिन्दन्तः

प्रतापसविधे ते सर्वेऽपि समागतवन्त आसन् । तदानीं
पलायमानं त्वदीयसैन्यमकचरः समायात इत्युक्त्वा
मानसिंहोऽवरुहोष ।

अक०--ततस्ततः--

चारः--ततश्चतुर्षु स्थानेषु कुन्तैर्विद्वो गुलिकया हतोऽपि तैः
सामन्तैः सार्धं तव सैन्याज्जीवन्नेवाऽसौ निर्गतः प्रतापः ।
परमसौ प्रताप इति छत्रचामरलाब्धनेन परिज्ञाते सति
सर्वेऽपि त्वदीयभटाः पुनः पुनस्तमेवाक्रमन्त ।

अक०--साधु सैनिकानां प्रकारः । यतस्तस्मिन् हते सर्वे हता
एव । ततस्ततः--

चारः--ततो 'निपात्यतामिदं हैममातपत्रम्, निपात्यतामिदं
हैममातपत्रम्, एतच्चिह्नेन मेवाढाधिपतिमेव सर्वे समा-
क्रामन्ति' इति प्रतापसैनिकानां सर्वत एवोद्घोषः प्राव-
र्तत । परं तु प्रतापः स्वाग्रदेण राजचिह्नभूतं हैमच्छत्रं
नैव न्यपातयत् ।

अक०--ततस्ततः -

चारः--तदनन्तरं प्रतापस्योपरि निपततस्त्वदीयभटानालोक्य
विजयतां विजयतां प्रताप इत्युद्घोषयंस्त्वदीयसैनिक-
भटान्नाशयन् झालारमहीपतिः प्रतापस्याभिन्नहृदयः
सुहृद् मन्नासिंहः प्रतापसविधे समागत्य मेवाढाधि-
पतेश्चिह्नभूतं छत्रं गृह्णीत्वा स्वोपरि स्थापयामास, अक-
थयञ्च प्रतापम्, 'अपसरतु भवान्संग्रामभमेः । त्वयि
जीयति मति स्वानन्वयमधिगमिष्यति मेवाढेः । आर्य-
स्थितिरपि चिरस्थायिनी भविष्यति । अन्यथा अद्यैव
मेवाढपदे निपात्यते दासतायाः शृङ्खला, समूलमार्य-
स्थितिराप विनश्यति ।'

अक०--साधु तेन तर्कितम् । ततस्ततः--

चारः—तदनन्तरं प्रतापो मेवाढाधिपत्यचिह्नं हैमच्छत्रं परित्य-
ज्यापि त्वदीयभटाञ्छ्लेत्तुं प्रावर्तत । परमसौ स्वल्पेनैव
कालेन मुमूर्षोश्चेतकस्य गतिमवगत्य शतशो विद्धं
तच्छरीरं चावलोक्य संग्रामभूमेरपासरत् । त्वदीय-
भटाश्च मन्नासिंहं निपात्य—‘हतः प्रतापः, जितमस्मा-
भिः’ इत्युद्घोषितवन्तः ।

अक०—अस्थाने भ्रान्ताः सैनिकाः । ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं तदीयभटास्ततोऽप्यधिकतरेणोत्साहेन अनु-
ध्यन्त । एतदवलोक्य युष्मद्भूतैरवगतं नायं हतः प्रतापः ।
तस्मिन्नेव क्षणे सेनाया बहिर्भागे गच्छन्तं प्रतापमवलोक्य
तदनुधाविनौ द्वौ सादिनौ तयोरप्यनुधाविनं शक्तिसिंहम-
वलोक्य अवश्यमेव प्रतापो हतो निगडितो वा समेष्यतीति
सर्वेऽपि निश्चितवन्तः । शुभवृत्तान्तमिदं श्रावयितुमहमि-
हारायतः ।

अक०—सुशोभनमिदं फलितं स्यात्ते वचनम् ।

(पटोन्नयनम्)

(हतो द्वौ सादिनौ निहत्य पदचारिणं प्रतापं समाह्वयति
शक्तिसिंहः ।)

शक्ति०—भो भो नीलाश्वारोहिन् ! तिष्ठ ।

प्रता०—(परावृत्त्य) आः ! शक्तिरेपः ।

(मनसि)

आपद्गतं नष्टसुहृत्सपत्नमेकाकिनं निर्जनभूमियातम् ।

हन्तुं प्रहीतुं किमुपागतो मां बन्धुर्विपत्ताश्रयणाच्च शत्रुः ॥३५॥

अथ शक्तिसिंहमवलोक्य प्रतापो मनसि तर्कयति—आपदिति ।
आपदं गतः आपद्गतस्तम्, अश्वस्य मरणासन्नत्वात् स्वस्य रुधिरनिस्सर-
णेन भ्रान्तत्वाच्च आपत्तो प्राप्तम्, अथ च नष्टाः सुहृदः—मित्राणि,
सपत्नाः—सहायका यस्य स तम्, अत एव एकाकिनमसहायम्, तत

(प्रकाशम्)

रे रे निर्घृण ! देशघातक ! कुलाङ्गार ! क्षमाभारक !

स्वं सज्जीकुरु कुन्तमाशु निपतत्यूर्ध्वं तथैव क्षणात् ।
हत्वा त्वामवनेनिरस्य कलुषं त्वत्पापशुद्धिं चर—
न्नात्मज्ञातिविपक्षपक्षचरणे गर्वं च ते चूर्णये ॥ ३६ ॥

(शक्तिसिंहः प्रतापमननं शृण्वन्नेव खड्गं कुन्तं च दूरतः क्षिपति ।
रुदन्नेव कथयते ।)

शक्तिसिंहः— भ्रातः ! क्षमस्व ममापराधम् । घाटमहं देशद्रोहकः ।

एव निर्जनमूमियातं—निर्जनस्थानं प्राप्तं मा बन्धुर्यन्धुमृतः शक्तिसिंहः किं
हन्तुं—मारयितुं ग्रहीतुं वा समुपागतः, यद्यपि बन्धो नैतत्संभाव्यते परं
तु विपक्षस्य शत्रोराश्रयणात् शत्रुरेव । यद्यपि वास्तविकतया नायं शत्रुः,
परं तु शत्रोराश्रयेण शत्रुरेवेत्यर्थः ॥३५॥

अथ शक्तिसिंहः शत्रुरेवेति निश्चित्य कथयति—रे रे इति । रे रे
नीचातिनीच ! निर्घृण ! निष्करुण ! आपत्तिसमयेऽपि प्रहारकारित्वा-
त्करुणारादित्यं सृज्यते । देशघातक ! मेवाहदेशस्य दास्यतासपादने
सहायकत्वादेशघातकत्वम् । कुलाङ्गार ! म्लेच्छदासतास्वीकारात्कुलप्रति-
ष्ठादाहकत्वेन कुलाङ्गारकत्वम् । क्षमाभारक ! पूर्वोक्तपापयुक्तत्वेन
ज्येष्ठभ्रात्रा मया सह विरोधकरणाच्च पापाचारित्वेन पृथिव्या भारभूतत्वं
सृज्यते । एवं संबोध्य कथयति स्वं-स्वकीय कुन्त सज्जीकुरु, यत एतत्ते
दृश्ये सतापो मा भूच्छ्लेन विद्धोऽहम् । अथ पुनः प्रबोधयति—एष
प्रतापः क्षणात्क्षणात्मात्रेण ऊर्ध्वं प्रत्यासत्त्या तथैवोर्ध्वं निपतति । अथ
फलं दर्शयति—त्वा हत्वा, अवने.—पृथिव्याः कलुषं-दुरितं निरस्य, तव
मरणेन पृथिव्याः कलुषस्य निवृत्तिः स्वत एव भवति । त्वत्पापशुद्धिं
चरन् कुर्वन् सन्, त्वन्मरणमेव तव प्रायश्चित्तं संपादयन्सन्, आत्म-
शांतेः—स्वकीयक्षानियशांतेर्विपक्ष—शत्रुर्धोऽकबरस्तस्य पक्षचरणे-तत्पक्षस्वी-
कारे ते तव गर्वमभिमानं च चूर्णये । तव मरणेन अकबरपक्षाश्रयणाज्जा-
यमानस्तव गर्वोऽपि उपशमिष्यति ॥३६॥

न जाने कुतो मे बुद्धौ भवितव्यतावशादापतितः
पापाणः ।

(प्रतारः शक्तिपुत्रनमाकर्ण्य त्वरितमेव शक्तिसिंहं वक्षसा आशिङ्गति)
(शक्तिसिंहः प्रतापपदे निपतति ।)

प्रता० (रुदन् शक्तिसिंहमुत्थापयति ।) कुतोऽयमनुरागः ?

शक्ति०—न दासतां गच्छतु मातृभूमित्त्वदर्थमेतान्भवतः सपत्नान् ।
संप्रामभूमौ पतितान्निरीक्ष्य त्वदर्थमेवाप्लवते मनो मे ॥३७॥
भ्रातस्त्वदीयश्चेतको मृतः ।

प्रता०—मुमुर्षुमेनमवलोकयैव संप्रामभूमेर्वाहिरागतोऽहम् ।

शक्ति०—सेनातो वहिर्गच्छन्तं भवन्तमवलोक्य द्वौ स्लेच्छराज,
सादिनो भारयितुमनुवाकितौ । एतदवगत्य अहमपि
द्रुततरं तावनुगत्य अन्तरैव हत्वा तव चरणयोः प्रातः ।
अधुना स्थानान्तरमपसरतु भवान् । कदा
चिच्छत्रुसैनिका मद्विलम्बात्संदिहाना इहाप्यागच्छेयुः ।
अतः परं त्वरितमेवाहं दासतायाः शृङ्खलां भङ्क्त्वा
त्वत्सैवायां समेष्यामि ।

((प्रतापः निष्क्रान्तः ।)

(पटोन्नयनम् । शक्तिश्च रणभूमिमागच्छति)

मानः—शक्ते ! किं निहतः प्रतापः ?

शक्तिसिंहश्च रुदन्पदे निपतति । प्रतापोऽपि चेतसो द्रवीभावाद-
श्रुण्वि विमुञ्चति ।

अथ शक्तिसिंहोऽनुरागकारणं दर्शयति—न दासतामिति । मातृ,
भूमिमेवाहभूमिदासता न गच्छतु, तदर्थमेतान्प्रत्यक्षतयाऽवलोकितान्
भवतः सपत्नान्—भवरसहायकान्, संप्रामभूमौ पतितान्मृताग्निरीक्ष्य त्वद-
र्थमेव त्वद्दुद्देश्यकत्वेनैव, मे—मम मनः आप्लवते । त्वदर्थमेवायं मे देहो
भवतु इति मनोऽभिलषतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

शक्ति०—स नैव हृतः, किन्तु स एव तौ द्वावपि सादिनौ निह-
त्य क्व पलायितः इति नाहं जान ।

मानः—अहो सायंकालः संवृत्तः । पश्य—

आरुष्यं गगनाङ्गणे समुदितं मुष्णत्प्रतीच्या मुखात्
क्षोर्यां धावदशेषवस्त्वपहरत्प्राचीपदादुद्धवत् ।

ज्ञानं चाप्यपसारयत्स्वपरयोः शान्तिं समुत्पादय—
नीलैर्लिम्पदिवान्तरं गतभिदं ध्वान्तं समुज्जृम्भते ॥३८॥

इति वाद्यतां विजयपटहः (इति तदाज्ञया कश्चित्सैनिको विजयपटहं
वादयति) (इतश्चन्दावरस्तेनापतेराज्ञया प्रतापसैनिकोऽपि विजयपटहं
वादयति । इति निवर्तन्ते उभयोरपि सेनयोः सैनिकाः ।)
(ततः प्रविशन्ति रणभूमौ वीरभद्रसहिताः पिशाचाः ।)

अथ मानः सायंकालमवलोक्य कथयति—आरुष्यमिति ।
प्रतीच्याः—पश्चिमाया मुखात् गगनाङ्गणे-आकाशे समुदितम् आरुष्य
मुष्णत्-चोरयत्, क्षोर्या-पृथिव्या धावत्-स्वरितगत्या प्रसरत् । अशेष-
वस्तु, जातित्वादेकवचनम् । समस्तान्यपि वस्तूनि अपहरत् । प्राचीपदा-
त्पूर्वदिशः स्थानात् उद्धवत् प्रादुर्भवत् । तथा स्वपरयोर्ज्ञानं च अपसार-
यत्-अयमात्मनीयः अयं परः परकीय इति ज्ञानं निवारयत् शान्तिं समु-
त्पादयत्-सर्वेषां स्वस्वव्यापारान्निवृत्तेः शान्तिं जनयदित्यर्थः । अन्तर-
पृथिव्याकाशयोन्तराल नीलैः नीलवर्णैर्लिम्पदित्युत्प्रेक्षा । गतभिद-गतो
भिदो यस्मात्, एकाकारतया अमेदरूपेण स्थित ध्वान्तमन्धकारं-
समुज्जृम्भते-ऋमशः ऊर्ध्वतिर्यग्भूभागादिप्रदेशेषु वर्धते ॥ ३८ ॥

अथ तृतीयपिशाचो मन्नासिंहशीरे लब्ध्वा कथयति—अनेनेति ।
अनेन मन्नासिंहशीरेण-महेश्वरः-ऋमशाननिवासी रुद्रो महर्तो-वृहत्तरां
सुमुण्डमालां विंशष्टवीराणां मुण्डैर्निर्मिता माला परिगुम्फयिष्यति । ततश्च
अपूर्व रूपं यस्य तत्तथा लोकोत्तरयोभातिशयि, सुमेरुणा संगतं-सुमेरु-
सगमम्, अद्यावधि तथाविधवीरस्यानुपलब्धे सुमेरुद्वितामेव मान्ना

पिशाचः—अले ले सज्जो मालिअस्स अस्स उस्सिणो लुहिलो ।
 अरे रे सद्यो मारितस्य अस्य उष्णं रुधिरम् ।
 अले अम्हे अप्पाणं घडे भलिस्सामो ।
 अरे वयम् आत्मना घटान्मरिष्यामः ।

द्वि० पिशा०—अले ले इमस्सि बहुयलं मज्जा । अणेण अम्हाणं
 अरे रे अस्मिन् बहुतरा मज्जा । अनेन अस्माकं
 बहुकालो गमिस्सइ ।
 बहुकालो गमिष्यति ।

तृ० पिशा०—अले अम्हेहिं मन्नासीहसीसो लद्धो ।

अरे अस्माभिर्मन्नासिहशीर्षे लब्धम् ।

अणेण सीसेण महेसलो महं सुमुण्डमालं पलिगुम्फइस्सइ ।

अनेन शीर्षेण महेश्वरो महतीं सुमुण्डमाला परिगुम्फयिष्यति ।

अणुव्वल्लवो य सुमेरुसंगमो विलक्खणो लुइउलो लगिस्सइ ३६

अपूर्वरुक्खं सुमेरुसंगतं विलक्षणं रुद्रारो लगिष्यति ४०

द्वि० पिशा०—अले ले मए हत्थिसमूहवित्तासअस्स महेसल-

अरे रे मया हस्तिमूहवित्रासकस्य महेश्वर-

सीहस्स सिलो लद्धो ।

सिंहस्य शिरो लब्धम् ।

एवं जगत्रो जगणी लुहाणी कालिआ सुमालाए ।

एतज्जगतो जननी रुद्राणी कान्तिका एवमालायाः ।

परिदधाति । अतः परं लोकोत्तरशीर्षशालिनस्तस्य शीर्षं मुण्डमालायां
 सुमेरुमंविष्यति, तत्संबन्धश्च उरसा भविष्यति । एवं सुमेरुसंगतं विल-
 क्षणम्-अनिर्वचनीयशोभायुक्तं रुद्रोरः लगिष्यति, तथाविधमालया
 अत्यन्तशोभायुक्तं महेश्वरस्य वक्षःस्थलं भविष्यतीति भावः ॥ ३६ ॥

एतदिति । जगतः-सकलचराचरलोकस्य, जननी-उत्पादयित्री,
 रुद्राणी कालिका एतन्मुण्डं स्वमालाया उक्तमवीरपुरुषाणां मुण्डैर्निर्मि-

मज्जे घलिऊण महं समसाणं साहु भन्मिस्सइ ॥४०॥

मध्ये धृत्वा महाश्मशानं साधु भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

वीरभद्रः—पश्यत पश्यत—

एष क्षमातलशायिनं शवमुरःप्रान्ते निघायोन्नतै-
रुग्रैः स्वैनखरैर्विपाठ्य किमपि क्रोडादुपादित्सते ।

मज्जां लिम्पति पादयोः परिदधात्यन्त्रं तनी कौतुका-
दव्यग्रं पिशितं समुन्नतरदैरुत्कृत्य भुङ्क्ते सुखात् ॥४१॥

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः ।

ताया आत्ममालाया मध्ये धृत्वा तत्रैनदपि परिगुम्प्य महाश्मशानं
तत्रैवास्या निवासात् साधु-सम्यक् प्रकारेण यथेच्छं भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

अथ वीरभद्रः कस्यचित्पिशाचस्य कृत्यं स्वसहचरान्दर्शयति-एष
इति । एषः पुरो दृश्यमानः पिशाचः, क्षमातलशायिनं-पृथिव्यां निपतितं,
शवं-कस्यचिद्वीरस्य मृतदेहम्, उरःप्रान्ते-उरसः वक्षस्थलस्य समीपे,
निघाय-स्थापयित्वा, जङ्घाद्वयस्योपरि स्थापने उरःप्रान्ते स्वत एव
स्थितिर्भवति । उन्नतैरुग्रैरतिकठोरैः स्वैनखरैः-स्वकीयनखैर्विपाठ्य क्षिप्रं-
शोषमेव तन्मध्यात्सम्यक् प्रकारेण किमपि उपादित्सते प्रहीतुमिच्छतीत्यर्थः ।
मज्जां पादयोर्लिम्पति । शिरोवर्ष्मणोः शीर्षदेहयोरन्त्रं परिदधाति, अन्त्र-
मेव स्वदेहे परिधत्ते इत्यर्थः । अव्यग्रं यथा स्यात्तथा समुन्नतरदैस्तीक्ष्णो-
न्नतदन्तैः, पिशितं-मांसम् उत्कृत्य-ततः । कञ्चिच्छ्रित्वा, सुखात् भुङ्क्ते
खादतीत्यर्थः । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्याय—विद्यावारिधि-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमधुराप्रसादकृतौ

वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः ।

पञ्चमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(अञ्जमेरपत्तने स्वशिविरे एकाकी स्थितोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०--हतो भटैः स्याद् यदि वा गृहीतः

संतापकारी तपनः प्रतापः ।

ततो भवेद्राज्यमखण्डमेतम्

सुखी परः स्यामपि सार्वभौमः ॥ १ ॥

कथं समरभूमेर्नाद्यापि प्रतिनिवर्त्तन्ते सैनिकाः । अहो
मानोऽपि चिरयते । किमसौ प्रतापो निःसृतः, किं वा रात्रौ
पुनः संग्रामः प्रवृत्तः । (पुनर्दक्षिणदिशमवलोकमानस्तर्कयति ।)

एतद् भूमिपरागरञ्जितपदं पिङ्गं नभो दृश्यते

भूयो भूय इव क्षमातलसमुद्भूतो ध्वनिः श्रूयते ।

यदकबरश्चिन्तयते तद्वर्णयति-हत इति । संतापकारी-दुःखदाता,
तपनः-साक्षात्पर्यस्वरूपः, सिंही माणवक इति वत्सूर्यगतपवित्रकारित्व-
मास्वत्कान्त्यादिगुणविशिष्टः, यद्वा-संतापकारी-मानसिकदुःखदाता,
तपनः-तपस्वी । प्रतापः भटैः प्रत्यासत्या अस्मद्भटैर्हन्ती मारितः स्यात्
यदि वा गृहीतः स्यात्, ततस्तदनन्तरमेतद्राज्यमखण्डं संपूर्णं स्यात्,
अह परःउत्तमः सुखो, सार्वभौमाऽपि स्याम् ॥ १ ॥

अकबरो दक्षिणदिशमवेक्षमाणस्तर्कयति-एतदिति । एतन्नमः
भूमेः पृथिव्याः परागैर्धूमिमा रञ्जितं पदं स्थानं यस्येति तथाभूतं सत्पिङ्ग-
पीतवर्णं दृश्यते । सैन्यागमने धूलिभिराञ्छादितं गगनमवगम्यत इत्यर्थः ।
तथा भूयो भूयः इव वारं वारमिव क्षमातलसमुद्भूतः पृथ्वीतलाज्जाय-
मानो ध्वनिः श्रूयते । तथा एव प्रत्यक्षतया विलोम्बमानः शनैर्मन्दं
मन्दं गच्छन् श्यामलः-श्यामवर्णो मत्तो-मदान्मत्तो गजनिवहो-दृष्टि-

एष श्यामलमत्तनागनिवहो गच्छच्छन्नैर्ज्ञायते

नूनं मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैः समागम्यते ॥ २ ॥

(ततः प्रविशति शाहबाजमानसिंहसहितः सलीमः ।)

सलीमः—

मेवाडराजं हतमित्रवर्गं भवद्भटैश्छिन्ननखाङ्कुशास्त्रम् ।

सहायभिन्नं विपिनेऽतिघोरे विद्राव्य सिंहं प्रणुते सलीमः ॥३॥

मानः—प्रतापगर्वशमको मेवाडध्वजमर्दकः ।

सार्वभौमस्य मानोऽसौ वन्दकीं कुरुते प्रभोः ॥ ४ ॥

अक०—(साश्रयंमिव) किमसौ प्रतापः पलायितः ? न धृतो

नैव वा हतः ? । अधृतेऽहते वा प्रतापेनाहं सार्वभौमः ।

सली०—भिन्नसपत्नो हतप्राय एव सः ।

समूहो शयते । नूनं—निश्चितमेव मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैर्हस्त्यश्व-
पदात्यादिभिः समागम्यते । सैन्यस्य ध्वन्यादिभिरिदमवगम्यते मेवाडं
विजित्य सकुशलैरेव सर्वैरागम्यते ॥ २ ॥

सलीमः प्रणमन्सन्स्वकार्यं सूचयति, मेवाडराजमिति । सलीमः,
हतः मित्रवर्गो यस्य सः त तथाक्तम् । भवद्भटैस्त्वत्सैनिकैश्छिन्नानि
नखाङ्कुशास्त्राणि यस्य तम् । सिंहपक्षे—नखान्येव अङ्कुशास्त्राणि यस्येति ।
प्रतापपक्षे—नखानीव अङ्कुशास्त्राणि यस्य तम्, सहायभिन्नं सहायैरपर-
मटैः, अन्यत्र शृच्छव्याघ्रादिभिर्भिन्नं रहितम् । सिंह—सिंहस्वरूपं—प्रतापम्
अतिघोरे-महाभयकरे विपिने—वने विद्राव्य—प्रणुते—नमस्करोति ॥ ३ ॥

अथ मानः स्वकार्यं सूचयन् प्रणुते—प्रतापेति । प्रतापगर्वस्य
शमकः—प्रतापगर्वविनाशक इत्यर्थः, तथा मेवाडस्य—मेवाडदेशस्य
ध्वजस्य—पताकाया मर्दकः—मेवाडं विजित्य तत्पताकाया ध्वंसकः, असौ
मानो मानसिंहः सार्वभौमस्य सर्वभारतस्थाधिपतेः प्रमोदकरस्य वन्दकीं-
चन्दनां परिचर्या वा कुरुते ॥ ४ ॥

अक०—कथमसौ जीवन्निसृतः ? श्रुतमेतन्मया मुल्तानी-
खुरासान्यौ भटावनुधावितौ, तदनु शक्तिसिंहश्च
प्रधावित इति पुनरपि कथमसौ न निहतः ?

मानः—शक्तिसिंहोऽपरिहत एव परावृत्त इति संभावयामि
शक्तिसिंहेनैव तौ निहत्य स्वध्राता रक्षितः ।

अक०—आम् ! युक्तं संभाव्यते एवमेवैतत् । अस्तु । प्रतापो
प्रहीतव्यो हन्तव्यो वा, चिरकालं स्थितः पुनरु-
पद्रोष्यति ।

शाहवाजः—मामाज्ञापयन्तु महाराजाः । अहमेनं क्षणाद्
विजित्य बध्वा च आनेष्यामि ।

अक०—शाहवाज ! सर्वं त्वयि संभाव्यते । अथ त्वरितमेव गच्छ ।
निविडविपिनमध्ये कन्दरामन्दिरे वा
शिखरिशिखरभागेऽधित्यकायां स्थितं वा ।
सकलमवनिभागं शोधयित्वा निबध्य
त्वरितमरिममुं त्वं मत्पदे पातयेथाः ॥ ५ ॥

तस्य स्थितेः शोधनार्थं पञ्चत्रिंशत्सहस्रसंख्याकान्भटान्नयस्व ।
(ततः प्रविशति स्वानुचरभटैरनुगम्यमानः शक्तिसिंहः ।)

शक्ति०—विजयताम् एकलिङ्गेश्वरः ।

अकवरः शाहवाजमाज्ञापयति—निविडेति । त्वं सकलमवनिभागं-
मेवाडभूभागं, शोधयित्वा निविटं-सघनं यद् विपिनं-वनं तस्य मध्ये तम्
कन्दरैव मन्दिरं-भवनं तत्र स्थितम् । यद्वा-कन्दरा च मन्दिरं चेति
कन्दरामन्दिरम् 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः, तस्मिन्, कन्दरायां
मन्दिरे देवालये गृहे वा स्थितम् । तथा शिखरिणः पर्वतस्य शिखराणां
भागे कस्मिंश्चित्पदेशे स्थितम् । अथवा-अधित्यकायां पर्वतान्योपरि-
स्थितम् । अमुमरिं प्रतापं निबध्य त्वरितं-शीघ्रं मत्पदे .पातयेथाः,
मघरणौ पातय ॥ ५ ॥

मानः—(मनसि) कथमसौ एकलिङ्गेश्वरस्य जयं प्रार्थयते । यादं विरक्तोऽस्तीति ज्ञायते ।

अक०—कथमसौ प्रतापो विनिःसृतः ? कथं वा त्वया परित्यक्तः ?
(अन्तरैव सलीमः शक्तिसिंह वक्ति ।)

सली०—सत्यं कथय त्वामभयदानेन परिपालयामि ।

शक्ति—तौ भटौ निहत्य मया प्रतापो रक्षितः ।
(सर्वे साश्चर्यमिव शक्तिसिंहमवलोकन्ते ।)

सली०—कस्मादसौ रक्षितः ?

शक्ति०—सालुम्बतातो निहतः समक्ष—
मन्याययातैः सुभटैस्त्वदीयैः ।
रुग्णे विपण्णे च पलायमाने—
ऽनुधावनं क्रौर्यमिदं न शौर्यम् ॥ ६ ॥

सली०—तर्हीदानीमस्मत्पक्षाद्विरक्तोऽसि ?

शक्ति०—यादं विरक्तोऽस्मि ।

सली०—तर्हि यथेच्छं गच्छ । अभयदानेन परिपालितोऽसि ।

शक्तिसिंहः अकबरपक्षत्यागकारणपुरस्सर प्रतापरक्षणे कारणं प्रदर्शयति—सालुम्बेति । समक्षं मम समक्षमित्यर्थः । अन्याययातैः—अन्यायेन यातैः पश्चाद् भागान्नितीय प्राप्तैस्त्वदीयैः सुभटैरुत्तममटैर्न तु साधारणभटैः; सालुम्बतातो निहतः । पितृस्थानीयः सालुम्बतातो मम समक्षमेव युष्मद्भटैरन्यायान्निहत इति पक्षत्यागकारणं बीजरूपेण सूचितम् । अथ प्रतापरक्षाकारणं दर्शयति । रुग्णे—व्रणादिना मूर्च्छिते, विपण्णे—पुत्रादिमरणेन विपादयुक्ते रणातराङ्मुखे इत्यर्थः तथा पलायमाने—पलायनं कुर्वन्ति सति अनुधावन—पश्चादाक्रमणकरणं शौर्यं न । नैतच्छूराणां कार्यम्, किं तु इदं क्रौर्यम्, क्रूराणामेवेदं कार्यम् । अथस्य मरणावन्तत्वात्प्रतापो विपादयुक्त एवासीद्, अतः स मया रक्षितः ॥ ६ ॥

शक्ति०—समरैकव्रतानां मृत्युनिर्भयाणां भटानां नैव कुतोऽपि भयमस्ति । (इति ब्रुवन्नेव स्वानुचरमटैः सहैव निष्क्रान्तः ।)

सली०—युक्तं मानेन तर्कितम् ।

मानः—मया तदाकृत्या चैष्टया व्यवहारेण चावगतमासीत् । भवता युक्तमेव कृतम्, यदसौ निस्सारितः, न जाने पितुरोपाद् रुष्टस्सन् कमप्याक्रामेत् ।

अक०—यावदसौ प्रतापसाहाय्याय समुपतिष्ठते ततः पूर्वमेव प्रतापो ग्रहीतव्यः । अन्यथाऽस्य साहाय्येन स प्रचलो भविष्यति ।

शाहवाजः—कोऽसौ वराकः ।

द्वित्रैदिनैरेव निपात्य चैनं बद्ध्वा भवत्यादत्तले च नेष्ये ।
कोऽसौ वराकः किमु वा प्रतापो रणे धृतासौ मयि युध्यमाने ॥७॥

अक०—तर्हि नेदानीं कालः प्रतीक्षितव्यः ।

सली०—इदानीं वर्षाकालः संवृत्त इति द्वित्रमासानन्तरमेवाभियातव्यम्, अन्यथा पर्वतीयनद्यादिभिर्महती हानिः संपत्स्यते, विजयाशा च दूरे स्थास्यति ।

अक०—(मानस्याभिमुखं पश्यन्) मानसिंह ! किमत्र युज्यते ?

मानः—युक्तमेव सलीमस्तरुयति ।

अक०—शाहवाज ! एवमेव भवतु । प्रतीक्षस्व तावद्वर्षाकालम् ।

(ततो निष्क्रामन्ति मानप्रभृतयः ।)

अक०—दौवारिक ! विश्रान्तिमभिलषामि तद् विश्रामस्थानं प्रदर्शय,

दौवा०—इदो इदो महाराओ ।

इत इतो महाराजः ।

(इति दौवारिकेण सह निष्क्रामत्यकबरः)

द्वितीयो दृश्यः । पटोन्नयनयम्

(इतः प्रतापो वर्षाकालेऽवकाशमावाद्य श्रवशिष्टान्तामन्तान् सैनिकाश्र-
कत्रीकृत्य गोगन्धर्वयते स्थितः शञ्जोरागमन प्रतोद्धते ।)

(शक्तिविहः स्वभटैः सह परामृशन्गच्छति ।)

शक्ति०—राज्ञः समीपे रिक्तपाणिभिरस्माभिर्नैव गन्तव्यम् ।

भटाः—इयमेव शास्त्रमर्यादा, तद्योग्यमुपायनं गृहीत्वैव गन्तव्यम् ।

शक्ति०—ममैतत्प्रतिभाति, यदिदं पुरतो दुर्गं विलोकयते तदेव-
द्विजित्य एनदेवोपायनं दातव्यम् ।

भटाः—एतत्क्षणांशो वर्यं विजेष्यामहे । (इति शक्तिविहो भटैः सह
गच्छति । गत्वा तद्रक्षक निपात्य वध्ना च दुर्गोद्घाटनयन्त्रं
गृह्णाति । रक्षकभटप्रार्थनया तमुन्मुष्याऽऽगच्छति । एवं त
द्विजित्य प्रतापसमीपे स्वभटैः सहितः शक्तिविहः उपतिष्ठते ।)

शक्ति० मातृभूमिसुरक्षार्थं गृहीतासिन्नवानुग ।

लघुभ्राता त्वदीयोऽयं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥ ८ ॥

(इति प्रणम्य प्रतारचरणे तालिका समर्पयति ।)

प्रता०—कीदृगियं तालिका ?

शक्ति०—भवचरणारविन्दसेवाथ मागच्छता मया विचारित-
सिद्धम्, यत्प्रभो राज्ञः समीपे रिक्तपाणिना नैव
गन्तव्यमतः 'किसरूर' दुर्गं विजित्य मेवाडध्वजं
तत्रारोपितम् । कतिचिद्भटाश्च तत्र तद्रक्षणाय नियुक्ताः ।
इयं तदुद्घादनतालिका ।

अथ शक्तिविहः स्व प्रतापानुगानिन् सूचयन्प्रणुते—मातृभूमीति ।
मातृभूमेः शोभनप्रकारेण रक्षार्थं गृहीतः अभिन्नतो येन सः, तस्य
अनुग-अनुचरः । भवदनुचर इत्यर्थः, लघुभ्राता तव लघुभ्राता,
तदीयः—सर्वथा अनुगामी अर्थः शक्तिविहस्ते पदे प्रणतः—भवचरणे
निपतितोऽस्तीति ॥ ९ ॥

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्तवैवाधिकारे तिष्ठतु ।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमत. परं युद्धाद्विराममभिलपन्ति महाराजाः ।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्वं न संचूर्णये
तापं चात्मकृती परं विदधतं सन्धी न तं पातये ।
मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ९ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते । अहं तु भवतामनुचर एव ।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थास्ये ।

(तदनन्तर स्वभटान्प्रतापशाहाय्यार्थं विमुच्य स्वय तत्रैव दुर्गे समुप-
गच्छति शक्तिसिंह. ।)

चारः (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तर मानशाह-
बाजप्रभृतयो भवन्त प्रहीतु महता बलेन सनह्य प्रचलिताः ।
पटोन्नयनम् ।

(तत प्रविशति कस्याञ्चिदरण्यान्या प्रताप मृगयमाण इन्द्रपुरोधपतिः)
सामन्तः—(तत्र कञ्चन भटमवलोक्य, मनास ।)

नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाष्यम् । को वाऽन्य एकाकी
एवंभूतायामरण्यान्या भ्रमितुं शक्नोति । अस्तु, तावदा-
भाषणेन प्रत्येमि । (स्फुटमवलोक्य) अहो! प्रतापसहा-

यावदिति । यावन्नेच्छानेरकवरस्य

गर्वं न संचूर्णये-नैव नाशयामि । आत्मनः
परमत्यन्तं ताप-शशात्तापं विदधत कुर्वन्त
नैव पातयामि च । तथा अहं समुन्नत-लोके
मानसिहस्यापि सर्वमभिमानं न च उच्छे-
तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्यागात्स्वहृदय
युद्धान्नेव विरतो भवामोत्थर्यः ॥ ९ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ज्ञायते । (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु
जयतु एकलिङ्गेश्वर ।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपति. सामन्त । जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः ।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात् ।

साम०—श्रूयते अकवरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः
कारिता ।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च
विपणिः कारिता ।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकबर स्वयं प्रच्छन्नवेपेण सानुचरो गत्वा आर्य-
मर्यादां नाशयति ।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर
एव ता रक्षतु ।

रुद्र०—ईश्वरसिन्वदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः । अत
आर्यमर्यादा मेवाडप्रदेशजाता एव रक्षन्तु ।

साम०—प्रताप क्वेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि । यदा अकबरभटा गोगन्धपर्वत-
मवरुध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्त. प्रताप
किञ्चि काल युद्ध्वा कोमलमीरपर्वते अगच्छत् । इतो
रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः सार्द्धं तमस्येव
सहस्रशो यवनभटारिद्धन्दन् सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव
तमपि विभिद्य परमं स्थानं गतः ।

अयं प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः—कृष्णे
चित्तं यस्य सः कृष्णाराधकः । यद्वा कृष्णं पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णं चित्तं
यस्य सः तथा । यवनपते. सहाय -सहामृत, सेर्ष्यं—ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य
शिवोपासकत्वादकारिणिकेर्ष्यासमुत्तः अर्बुदेशः—अर्बुददेशाधिपति.

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्तवैवाधिकारे तिष्ठतु ।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमत. परं युद्धाद्विराममभिलपन्ति महाराजाः ।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्वं न संचूर्णये
तापं चात्मकृतौ परं विदधतं सन्धौ न तं पातये ।

मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ६ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते । अहं तु भवतामनुचर एव ।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थास्ये ।

(तदनन्तर स्वभटान्प्रतापसाहाय्याय विमुच्य स्वयं तत्रैव दुर्गे समुप-
गच्छति शक्तिरिह. ।)

चार. (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तर मानशाह-
बाजप्रभृतया भवन्त ग्रहीतु महता बलेन सन्नद्य प्रचलिताः ।
पटोन्नयनम् ।

(तत. प्रविशति कस्याञ्चिदरण्यान्या प्रताप मृ गयमाणं इन्द्रपुराधिपतिः)
सामन्तः—(तत्र कञ्चन भटमवलोक्य, मनसि ।)

नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाव्यम् । को वाऽन्य एकाकी
एवंभूतायामरण्यान्यां भ्रमितुं शक्नोति । अस्तु. तावदा-
भाषणेन प्रत्येमि । (स्फुटमवलोक्य) अहो अयं प्रतापसहा-

यावदिति । यावन्नेच्छतेरकचरस्य समिद्ध वृद्धि गतम् अखिल
गर्वं न संचूर्णये-नैव नाशयामि । आत्मनः कृतौ युद्धादिरूपे कार्ये
परमस्यन्त ताप-पश्चात्ताप विदधत कुर्वन्त सन्धौ न पातये-सन्ध्यर्थं
नैव पातयामि च । तथा अहं समु-न्नत लोके विप्रयित्वेन प्रवृद्ध मानस्य-
मानसिहस्यापि सर्वमभिमान न च उच्छेदये-समूल नैवोच्छेदयामि,
तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्योगात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि न आवर्तये-तावत्
युद्धान्नेव विरता भवामोत्थयः ॥ ६ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ज्ञायते । (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु
जयतु एकलिङ्गेश्वरः ।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपतिः सामन्तः । जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः ।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात् ।

साम०—श्रूयते अकवरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः
कारिता ।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च
विपणिः कारिता ।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकवरः स्वयं प्रच्छन्नवेपेण सानुचरो गत्वा आर्य-
मर्यादां नाशयति ।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर
एव तां रक्षतु ।

रुद्र०—ईश्वरस्त्विदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः । अत
आर्यमर्यादां मेवाडप्रदेशजाता एव रक्षन्तु ।

साम०—प्रतापःस्वेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि । यदा अकवरभट्टा गोगन्धपर्वत-
मवरुध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्तः प्रतापः
किञ्चिक्कालं युद्ध्या कोमलमीरपर्वते अगच्छत् । इतो
रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः सार्द्धं तमस्येव
सहस्रशो यवनभटांश्छिन्दन् सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव
तमपि विभिद्य परमं स्थानं गतः ।

अथ प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः—कृष्णे
चित्तं यस्य सः कृष्णाराधकः । यद्वा-कृष्णं पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णां चित्तं
यस्य सः तथा । यवनपतेः सहायः—सहामृतः, सेव्यः—ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य
शिषोरासक्तत्वाद्कारणिकेर्ष्यासंयुक्तः अर्षुदेशः—अर्षुदेशाधिपतिः

साम०—तद् दुर्गमभेद्यमिति श्रुतम्, तत्कथं मुक्तम् ?

रुद्र०—अभेद्यमिति मत्वा हताशाः सर्वे यवनसैनिका यदा परा-
वर्तितुमुन्मुखा अभवंस्तदा अर्बुदेशो जलस्थानेषु विप-
प्रक्षेपणाय यवनसेनापतिं प्राबोधयत्, जलस्थानानि च
व्यजिज्ञपत् । तद्विषेण शतशः संभावितयोद्धारो विनष्टाः ।
तृपितं पुत्रमित्रकलत्रभृत्यादिकं चावलोम्य साश्रुनयनः
सोच्छ्वासं प्रतापोऽयदत् । हा दुर्दैव ! किमिदं ते दुर्वि-
लसितम् । कथमत्र तृपिताः स्थातुं शक्नुमः । हा एते
सहस्रयोधिनो धोद्धारो विषेण विनष्टाः, सालुम्बादय-
स्तु न शोच्याः, यद् वीराणां रणे मरणां प्राकृतिकमेव ।
एते मदर्थमकारणमेव विनष्टा इति बहुतरमशुचत् ।

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः किमन्यत् । तदेव जातं यद् दुर्दैवविलसितमासीत् ।

गरलममृतमध्ये कृष्णचित्तोऽर्बुदेशो

यवनपतिसहायः क्षेपयामास सेर्ष्यः ।

नरपतिरथ हित्वा स्थानमेतत्प्रतापो

विपदि पदमनैषीदात्मधैर्यं बुभुत्सुः ॥ १० ॥

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः क्रमशो वनपवंतकन्दरादुर्गाधित्यकोपस्यकादिषु
यवनैरधिकृतेषु मिल्लभटसुरक्षितः कलत्रपुत्रकन्यकोपेत-

श्रमृतमध्ये जलमध्ये गरल-विषं क्षेपयामास । विरुद्धवस्तुनोः सङ्करः पाप-
जनकः, तत्रापि श्रमृते विषप्रक्षेपस्तु महापापजनकः । अथ-गरलप्रक्षेप-
नन्तर-नरपतिः-प्रतापः, एतत्स्थानं हित्वा-परित्यज्य आत्मधैर्यं बुभुत्सुः-
स्वकीयधैर्यं ज्ञातुमिच्छुः, विपदि-विपत्तौ पदमनैषीत् । “विपदि धैर्यमथा-
भ्युदये क्षमा” इति प्राकृतिकस्यात्मधैर्यस्य परीक्षणाय विपत्तौ पदं निन्ये ।
अतः परं प्रतापोपरि विपत्तिरामञ्छदिति भावः ॥ १० ॥

अन्दावदादिप्रधानभटैस्सहितः प्रतापो मृगवृकवराह-
शार्दूलमर्कटशृगालखड्गमार्जारगवयशल्यसंकुलं भृङ्ग-
तन्तुवायवृश्चिकभुजंगपिपीलिकाशतपदकर्णशलाकिकागौ-
घेरदंशमधुमक्षिकाविपस्तूपिकादिव्याप्तं पीलुपलाशपिप्पल-
प्लक्षपर्पटीप्रियालपट्टिपुष्पप्रियकपिच्छलापूतिकपाटला-
प्रियङ्गुपिचुमन्दसघनं काकोलूककपोतकुक्कुटचटकखञ्ज-
रीटयककोकिलरथाङ्गकुररमयूरतित्तिरिचकोरवर्तकादिवि-
विधपक्षिगणसंयुतं जावराप्रान्तीयपर्वतारण्यं प्रविवेश ।
प्रविशन्तं तं विहाय अहमकवरवृत्तपरिज्ञानाय आगरा-
नगरं गतवानासम् ।

साम०—एहि । आवां गत्वा प्रतापमुद्वोधयिष्यावः ।

(इति वदन्तौ वने प्रविष्टौ ।)

पटोन्नयनम्

(इतः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं भ्राम्यन् शिलातले निषण्णः
प्रतापो विधेर्दुर्बिलसितं पत्न्याः साहससहिष्णुतादिगुणं पुत्रस्य सुता-
याश्च कष्टं विचारयन् किमपि शोचते । तदन्तरा एव सुतायाः
कुतोऽपि भयत्रासस्वरसमिश्रितं चीत्कारशब्दं शृणोति ।)

मृगेति । अत्र मृगादयः, स्वच्छन्दगतेः परिगन्धिनः, सर्वेऽपि नामतः
सुगमत्वान्न व्याख्यायन्ते । भृङ्गादयो यथास्थानस्थितावपि दर्शनादिना
भयजनकाः । वृश्चिकसर्पादयो भूशयने दंशने दुःखजनकाः । प्राणघात-
काश्च । पील्वादयः लुद्रफलजनकाः । पिचुमन्दो निम्बः । तथा काकोलू-
कादिदुष्टपक्षिगणसंयुतम् । आरण्यकः कुक्कुटो भक्ष्यः । तित्तिरिक्वोती
देशव्यवस्थया भक्ष्यभक्ष्यौ । अन्ये अमक्ष्याः । एतेन तस्यारण्यस्य
शयनासनचक्रमण्णादिप्रतिबन्धकत्वं भोजनानुपलब्धेश्च दुःखजनकत्वं
सूच्यते । एवं महादुःखकारकेऽपि तस्मिन्नरण्ये प्रविवेश ।

रे इति । रे नीच ! अस्मत्सुतादुःखदायिन् ! तिष्ठ, त्वां शमनस्य-
यमराजस्य आलयं—गृहम् आनये । त्वां हत्वा यमगृहं प्रेषयामीत्यर्थः ।

प्रतापः—(खड्गमाकृष्य घावति ।)

रे नीच ! तिष्ठ शमनालयमानये त्वा

क्वैप प्रयास्यसि दृशोर्विषयागतस्त्वम् ।

शक्रोऽपि रक्षितुमथ क्षमते न च त्वा

नैवासि चेच्छ्रुतिभवात्समयादवध्य. ॥ ११ ॥

(किञ्चिद् गत्वा आकृष्टखड्गस्तिष्ठन्विलोक्ते ।) आः! विडालो-
ऽस्याः करपट्टिकामपाहरत् । ततोऽतिक्षुधिता रोदिति ।
(एतदवलोक्य प्रतापोऽपि देवदुर्विलक्षित निन्दन् ऊर्ध्वमुख्यवसन
ब्रवीति) हा देव ! ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य हीनदीनदुःख-
निवारकस्य ममापि शिशवः क्षुधया रुदन्ति । हा भारत-
वसुंधरे ! सर्वतः सस्यसंपूरितायामपि त्वयि मदीयसुता
अन्तेन विना खिद्यन्ते । किं करोमि, वृथैवाहम्भरोऽयम् ।
किं तावत्सन्धिमेवाभ्यर्थयेयम् (इति विमृशन्नुपविशति । अथ
क्षुधार्ता सा बालिका पितृस्तङ्गे निपत्य 'पितः ! करपट्टिका मे
देहि' इति कथयन्तो रोदिति । प्रतापोऽपि अघोर इव तिष्ठति ।)

एष त्व दृशो प्रत्यासत्त्या मम दृशोर्विषयागत , मम दृष्टिगोचरोभूतः
सन् क्व प्रयास्यसि ! अथ मदृष्टिर्विषयागमनानन्तरं त्वा शक्रोऽपि-देवा-
धिदेवोऽपि रक्षितु न च क्षमते । न शब्द एवकारार्थः नैव समथो भवति
अन्यस्य कथैव का, चेत्-यदि श्रुतिभवात्समयात् शास्त्रमर्यादोपगताद्
व्यवहारादव-यो नैवासि । अवध्यत्वे एव मुक्तो भविष्यसि नाग्यथे-
त्यर्थः ॥ ११ ॥

हा देवैति । ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य ब्राह्मणभक्तिसमुद्भूतज्ञाताज्ञात-
सकलपारविशुद्धिद्वारा दुःखशोकाद्यभाजनस्य, हीनदीनदुःखनिवारकस्य,
यो हि हीनानां-दुर्बलानां दीनानां-भाजनवस्त्रपात्राद्यभावेन दुःखितानां
दुःखनिवारयति तस्येश्वरः स्वयमेव दुःखनिवारयतीति परमात्मना
दुःखनिवारयितुं योग्यस्य, ममापि पूर्वोक्तविशेषणद्वयविशिष्टस्य मम तु
नैवैतद् दुःखस्थानं भवितुमुचितमिति भावः । शिशवः बालकाः क्षुधया

प्रतापः—(मनसि)

सालुम्बे निहतेऽप्यभिन्नहृदये मन्नासखे स्वर्गते

युद्धे चापि पराजये प्रतिदिनं भ्रान्तेऽद्रिकान्तारयोः ।

किं चान्यत्क्षुधितेऽप्यनेकदिवसं धैर्यं न यत्कम्पितं

खिन्ना स्वामवलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वाऽद्य तल्लीयते ॥१२॥

प्रकाशम्

भद्रे! मा रोदीः, आनयामि ते करपट्टिकाम् ।

(अथ सा बाला पितृकृतसङ्गादुत्थाय मातुरङ्के निपत्य—) मातः! क्षुधि-
ताऽस्मि देहि मे करपट्टिकामिति कथयन्ती (पुनश्च स्वरेण रोदिति।)

रुदन्ति । स्वल्पेनैव अन्नेन फलादिना वा येषां क्षुधा निवर्तते ते रुदन्ति एतेनेदानीं स्वल्पमप्यन्नं फलं वा नैवोपलभ्यते इति सर्वथा अन्नदौर्लभ्यं सूचितं भवति । विमृशन्निति । एतेन सन्धिकरणस्य अङ्कुरोद्भवः सूचितो भवति । सुतायाः क्षुधया तथाभूतनिपतनाद्यवलोक्य अधीर इव संजातः । एतेन सन्धिकरणविचारस्य पल्लवितत्वं सूच्यते ।

अथ मनसि यत्प्रतापो विचारयति सहर्शयति—सालुम्बे इति । सालुम्बाख्ये पितृस्थानीये घोरवीरसामन्ते निहतेऽपि—सग्रामे मृतेऽपि । अभिन्नहृदये—अपृथग्मृतमनस्के मन्नासखे—मन्नासिहनामकमित्रे स्वर्गते तस्मिन्नपि मृते इत्यर्थः । युद्धे—संग्रामे पराजये चापि, प्रतिदिनम्—दिनं दिनं प्रति इति प्रतिदिनं प्रत्येकदिनमित्यर्थः । अद्रिकान्तारयोः पर्वतारण्ययोर्मध्ये भ्रान्ते स्थानात्स्थानातरं गमने कृते सति, किञ्चान्यत् अन्यत्किमधिकं कथयेयम्, अनेकदिवसं-नैरन्तर्येण अनेकदिवसपर्यन्तम् । कालाप्यनोरत्यन्तसयोगे इति द्वितीया । क्षुधितेऽपि क्षुधया पीडितेऽपि-मयि । यद् धैर्यं न कम्पितम्-अणुमात्रमपि न चलितम्, किन्तु पर्वतवत्तिरमासीत् तद् धैर्यम् अद्य खिन्ना-खेदयुक्तां, स्वां-स्वकीयामवलां खियं रुदतीं सुता कन्यका च दृष्ट्वा लीयते—सर्वथा विनश्यति । तथा-मृतदशार्था यदणुमात्रमपि न कम्पितं तदेव सर्वथा इदानीं विनश्यतीति पूर्वदुःखापेक्षया इदानींतनदुःखस्याधिकतत्त्वं सूचितं भवति ॥ १२ ॥

प्रतापपत्नी—कन्यकै ! मा रोदीः । दास्यामि ते करपट्टिकाम् ।
(इति कथयन्ती परिलालयति)

रुद्रः—(तामवलोकयन् । मनसि)

स्वाङ्के निधाय रुदती परिलालयन्ती

दृष्ट्वाऽथ रोदिति स रोदयते च सर्वान् ।

वृक्षा विहङ्गमगणाः पशवो विलोक्य

क्रीडां विहाय विलपन्ति वनोद्भवाश्च ॥१३॥

(पुनः प्रकाशम्)—आः पश्य । अस्य दुःखसहानुभूत्या एते उद्भिजतिर्य-
गादयो वनदेवताश्च विलपन्ति ।

(प्रतापः—किञ्चिद्द्वयंमवलम्ब्य) मनसि

मिथ्याभिमानविधिना समुपार्जितं किम्

कान्तारदुःखसहनेन समागतं किम् ।

प्रतापः उच्चस्वरेण रुदत्याः कन्यकायाः परिलालनं कुर्वती
स्त्रियमवलोक्य यत्करोति तद्दर्शयति—स्वाङ्क इति । रुदती पूर्वप्रकरणतः
प्राप्ता कन्यकां स्वाङ्के—स्वकीयोत्सङ्गे निधाय-स्थापयित्वा परिलालयन्ती-
विविधप्रलोभनादिना प्रसादयन्ती स्वस्त्रियं दृष्ट्वा प्रतापः रोदिति । अथ
रोदनसमनन्तरमेव सः प्रतापः सर्वान् तत्रस्थितान्स्वकीयसहायकभिरुला-
दीन् रोदयते च । एतेन सन्धिकरणसमये सर्वेषां दुःखोद्रेकात्प्रतिशब्दभावः
सूचितो भवति । अथ तत्रत्योद्भिजतिर्यगादीनां कृत्यमाह—वृक्षाः स्थावरा
उद्भिजादयः, विहङ्गमगणाः अपट्टजाः पक्षिसमूहाः, पशवो हरिणादयः
विलोक्य विलपन्ति—ततोऽप्यधिकतरं रुदन्ति । क्रीडां विहाय—स्वानन्द-
दायिकां क्रीडां परित्यज्य वनोद्भवाः—वनजाता ऋष्यादयो वनदेवता वा
विलपन्ति—सातिशयं रुदन्ति ॥ १३ ॥

प्रतापः किञ्चिद्द्वयंमवलम्ब्य विचारयति—मिथ्येति । मिथ्या योऽभि-
मानविधिस्तेन, व्यर्थमेवाहंकारकरणेन किं समुपार्जितम्—किमर्जितम् ।
न किमपीत्यर्थः, व्यर्थमेवाभिमानविधानं मे जातम् । तथा कान्तारे-महा-
रथे दुर्गमे वरमणि वा दुःखसहनेन किं समागतम् किमुपलब्धम् । न किम्-

ताम्यन्तमद्य विपिने स्वकुटुम्बवर्गं

शको न रक्षितुमतश्च करोमि सन्धिम् ॥१४॥

(इति विमृश्य कन्यकामवलोक्य ।) प्रकाशम्

कन्यके ! मा रोदीः,

आनयामि ते करपट्टिकाम् । नातः परं ते दुःखं भविष्यति ।

(इत्युक्त्वा मर्षी पत्रं चानाद्य सन्धिपत्रं लिखति । लिखित्वा स्वयं वाचयति ।)

दुःखाद्द्विग्नचेताः क्षुधितनिजसुतां क्षीणकायं कलत्रं

दृष्टोद्भ्रान्तः स्वरक्षाविधिमखिलमयं नैव कर्तुं समर्थः ।

तस्माद् युद्धाद्विरक्तः शमय रणकथां ज्ञायतां घृत्तामेतत्

सांगापौत्रः प्रतापो यवनपतिपदे याचते सन्धिचर्चाम् ॥१५॥

पीत्यर्थः तदपि व्यथंमेव जातम् । अद्य विपिने-अरण्ये ताम्यन्तं दुःखमनु-
भवन्तं स्वकुटुम्बवर्ग-पुत्रकलत्रादिकं रक्षितुं-पालयितुं न शकः न समर्थो-
ऽस्मि । अतश्च-अस्मान्च कारणात्, पूर्वोक्तकारणद्वयादनेन तृतीयेन च
कारणेन सन्धि करोमि । अद्यैव अकवरेण सह सन्धि करिष्यामि । वर्त-
मानसामोप्याद्भविष्यदर्थे लट् ॥ १४ ॥

अयं प्रतापः सन्धिपत्रं लिखित्वा वाचयति । दुःखादिति । दुःखाद्
घनाद् वनान्तरे भ्रमणादिना उद्विग्नं चित्तं यस्य सः तथा, एतेन संधिरत्र-
स्याप्रामाण्यं सूचितं भवति । उद्विग्नचेतसा क्रियमाणं कार्यमप्रामाणिकं
भवतीति सिद्धान्तात् । तथा क्षुधिता-बुभुक्षिता चासौ निजसुता-आत्म-
दुहिता तां, क्षीणः कायो यस्य तत्कलत्रं स्त्रियं दृष्ट्वा उद्भ्रान्तश्च कर्तव्या-
कर्तव्यज्ञानशून्यः अकर्तव्येऽपि कर्तव्यतामापन्न इत्यर्थः । एतेनारि संघे-
र-प्रामाण्यं सूचितं भवति । उद्भ्रान्तावस्थायां क्रियमाणं कार्यं न प्रमाणं
भवतीति नियमात् । एवं च उद्भ्रान्तोऽयं प्रतापः अखिलं-पूर्णरूपेण
रक्षाविधिं कर्तुं नैव समर्थः, पुत्रकलत्रादीनामात्मनश्च रक्षां कर्तुं नैव
समर्थ इत्यर्थः । यद्वा स्वेषां सर्वेषामात्मोपानाम् आर्याणाम् अखिलं पूर्ण-
रूपेण यथा स्यात्तथा रक्षाविधि-समस्तभारतस्य रक्षाविधिं कर्तुं नैव
समर्थः कष्टबाहुल्यात् अतिदुःखेन प्राप्यमाणे वस्तुनि वैराग्यान्चेदानी-

(इति वाचयित्वा गुहाय पत्रं ददाति । स पत्रं गृहीत्वा निष्क्रान्तः)
पटोन्नयनम्

(प्रतापानुचरो गुहः पत्रं गृहीत्वा राजसभायां दीवारिकेण सह
प्रविश्य अकबरहस्ते पत्रं समर्पयति । अकबरश्च वाचयित्वा सर्वान्
श्रावयति ।)

अकबरः — मृदंगपटहशुपिरमर्दलवल्लकीवादित्रातोद्यसंमिश्रिततत-
वित्ततन्त्रोत्तलत्तलत्रुटितम् ऋषभगान्धारस्यैवतपड-

मुत्साहाभावान्न समर्थोऽस्मीति भावः । तस्मात्कारणाद् युद्धादिरक्तोऽस्मि ।
यद्वा-त्वं युद्धादिरक्तः सन् रणकथा-संग्रामवार्ता श्रमय । भवद्भिरेतद् वृत्तं
शायताम् । सांगापौत्रः सांगेति स्वनामप्रसिद्धो वीरः, येन आमरणं स्वातन्त्र्यं
विहाय त्वत्पूर्वजैः सह सन्धिप्रार्थनं न कृतं, तस्य पौत्रः प्रतापः, एतेन
त्वत्पूर्वजैरनिष्पादितं कार्यं त्वया निष्पादितं भविष्यतीति सन्धेर्महत्त्व
सूचितं भवति । यवनपतिपदे आदरसूचनार्थमन्ते 'पद' पदप्रयोगः ।
अकबरादिति पञ्चम्यर्थे 'अकथितं च' इति द्वितीया । सन्धिचर्चा-सन्धि-
विषयकविचारं याचते । यद्वा-यवनपतेर्यस्यदं स्थानं तद्विषये । आगरा-
पत्तनपर्यन्तं यदि मह्यं राज्यं दद्यास्तदा नाहमुपद्रीष्यामि । यद्वा-हे यवन !
पतिपदे स्वतन्त्रतया अस्मत्स्वामित्वस्वीकारेण मयि राजपदप्रयोगे अहं
स्वतन्त्र एव राजा इति भवतः स्वीकृतौ सन्धिचर्चा याचते । यदि मा
स्वतन्त्रं राजानं स्वीकरोषि तदा नाहं स्वद्राज्ये आक्रमिष्यामीति भावः ।
यद्वा-हे यवन ! पतिपदे-स्वामित्वविषयकस्थाने, कियत्पर्यन्तं ते आधि-
पत्यं कियत्पर्यन्तं च मे आधिपत्यमिति सोमनिर्धारणे इत्यर्थः, सन्धि-
चर्चा याचते ॥ १५ ॥

मायिकमिति । मायया कपटेन निर्मितम् । क्षणिकसंतोषार्थ-
मिति । यावत्पर्यन्तं वास्तविकतया वस्तुस्थितेः परिज्ञानं न भवति तावत्पर्य-
न्तमेव संतोषार्थम् । प्रतापः सन्धि प्रार्थयते इति कृत्वा तत्र प्रसादार्थं
केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना तद्वैरिणा यतस्तस्याकीर्तिः स्यात्प्रतापः पराजितः
प्रतापोऽपि मानसिंहादिवदधीनतां स्वीकरोतीत्यर्थः प्रस्ताराय रचितम् ।

जादिशब्दसंपूरितं ध्रुपद्दीपकमलारभैरवभैरवीप्राभा-
तिकाशावरीवरवादिविविधरागसंमिश्रितं गानं मेवाह-
विजयमहोत्सवे आचर्यताम् । (इत्याशापयति ।)

(अग्रान्तरे प्रनासपक्षरातो पृथ्वीसिद्धो महोत्सवान्तरायमूतः समुपतिष्ठते ।)

पृथ्वी०—महाराज ! कस्यायं महोत्सवः ?

अक०—(पत्रं दत्त्वा पृथ्वीसिद्धेन वाचयति ।)

पृथ्वी०—मायिकमेतत् । भवतः क्षणिकसंतोषार्थं तद्वैरिणा केनापि
रचितम् ।

अक०—तर्हि पुनः पत्रं लिखित्वा प्रत्येतु भवान्, तदनुचरश्च
तावदारक्तकरक्षितस्तिष्ठतु ।

पृथ्वी०—एवं भवतु को दोषः । (इति तथा करोति ।) (श्लेषेण तमु-
द्वाघपत्न्यं लिललति ।)

आश्लेषपूर्वं वदतोऽपि चित्तं न निर्णयं मे समुपैति कञ्चित् ।
सन्धौ विरुद्धस्य दलं नु किंया तवेति नो वाक्यमथोत्तरेस्त्वम् । १६।

श्लेषेण इति । मद्गरश्लेषेत्यर्थः । अमद्गरश्लेषेणोन्वमानं भटित्येव बुद्धौ
प्रतिभायते । तं प्रताभम् । किं लिखतीति दर्शयति—

अथ स्थाभिर्गर्भं सूचयन् स्फुटं सन्धिनिषेधाय प्रेरयति—आश्लेषे-
ति । आश्लेषः—आलिङ्गनं तदेव पूर्वं यत्र । आलिङ्गनपूर्वं यथा
स्यात्तथा, अन्यत्र मद्गरश्लेषपूर्वं वदतः—कथयतोऽपि मे—मम चित्तं कञ्चि-
न्निर्णयं न समुपैति । विद्विदपि न निश्चिनोतीत्यर्थः । अथ पत्न्यद्वयं
दर्शयति—सन्धौ—सन्धिविषये विरुद्धस्य कस्यचित्तव विरक्षिणो दल-
पथं नु । नु इति वितर्के । केनचित्तव वैरिणा स्वन्नाम्ना मायया निर्मितं
किम् ? किं वा अथवा तव इति नः अस्माकं वाक्यम् । अथ त्वम्
उत्तरेः । निषेधप्रेरणारक्षे । सन्धौ विरुद्धस्य दलं नु किं वा तव, इति
प्रश्नः । अथ वदेददद्यात् स्वं नो नैव इति वाक्यमुत्तरेः । ममेतत्पत्रं
नैवास्तीति ररमुत्तरयेति भावः ॥ १६ ॥

सन्धावपूर्वत्रिदशानुभूतिः कान्तो यशोङ्गे कमलानुगन्धः ।
 अमध्यमं भास्करमेव मत्वा द्रक्ष्यन्ति लोकाश्च सविस्मयं त्वाम् । १७।
 किं किर्मारचरित्रचित्रितविधिं नौरोजमालोकितुं
 चेतो धावति तेऽपि चिन्तितपदस्थाने प्रतिष्ठास्थितेः ।

सन्धाविति । सन्धी-अकवरेण सह सन्धिकरणे अपूर्वा-पूर्वमनुभूता त्रिदशाना-देवसुखानामनुभूतिः । यदा-अपूर्वा त्रिदशाना-तिस्रो दशा येषां ते त्रिदशा देवास्तेषामनुभूतिरनुभवः, देवादीनामिव सर्वदा सुखमेव भविष्यतीत्यर्थः । यत्ते-अपूर्वः, नास्ति पूर्वं वणो यत्रेति अपूर्वः एवमूतो यस्त्रिदशाशब्दः, त्रिदशाशब्दे पूर्ववर्णस्य 'त्रि' इत्यस्याभावे दशा इत्येव शिष्यते । ततश्च दशायाः अशुभमहादिदशाया अनुभूतिरनुभवा भविष्यति । दशाशब्दोऽशुभदशाया रूढः । तथा कान्तो-मनोहरो यशोऽङ्गे-ते यशोऽवयवे कमलाना कमलपुष्पाणामनुगन्धः, सन्धिकरणानन्तरं कमलपुष्पाणां सुगन्धिरिव ते यशोऽवयवे सुगन्धिर्भविष्यति । तव यशसः प्रसिद्धिः प्रतिष्ठा च भविष्यति । पक्षे-कान्तः कस्य-क इत्यक्षरस्य अन्तो-नाशो यत्रेति । कमलानुगन्धः इत्यत्र ककारस्याभावे मलानुगन्ध इत्यवशिष्यते । ततश्च ते यशोऽङ्गे मलानुगन्धः-मलस्य अनुगन्धो भविष्यति । दशादाक्षिण्यादिविषये यशसः शांभनत्वेऽपि सन्धेश्च कातरतासूचनात् यशसः एकदेशे मलानुगन्धो जायमानः सर्वमपि ते यशो दूषयिष्यतीति भावः । तथा लोकाः अमध्यम मध्यकालानवस्थितम् । मध्यकालिकसूर्यस्य दर्शनायोगात् प्राभातिकं भास्करमेव साक्षात्सूर्यमेव मत्वा तेज प्रभावातिशययुक्तत्वात्सूर्यं एवायमिति मत्वा सविस्मय साश्चर्यं यथा स्थाप्यत्वात्वा द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यन्ते । पक्षे 'अमध्यमम्' नास्ति मध्यमो मध्ये जायमानो वणा यत्रेति अमध्यमम् । मध्यवर्णरहितं भास्करम् भास्करमिह मध्यवर्णस्याभावे भारमित्यवशिष्यते । ततश्च भारमेव मत्वा "त्वं पूयिष्या भार एव सजातो यवनस्थाधीनतास्वीकारादित्यादि मत्वा" लोकात्त्वा सविस्मय साश्चर्यम् । कथमयं सागावौत्रः प्रभावशाली वीरः कातरः संजात इत्यतर्कितत्वात्सविस्मय द्रक्ष्यन्ति ॥ १७ ॥

पृच्छामः किमु गौरवं तव कृतौ किञ्चिद्ब्रह्म स्वके
स्वान्ते वा त्रपथाऽवनम्रशिरसस्तिष्ठाम संसद्गताः ॥१८॥

लीलासंमिलितेन्दुं तुहिनहिमगिरिचौरताराञ्जकान्त—
ज्योत्स्नानागेन्द्रशङ्खजुनकुसुमसुधाजाह्नवीर्निह्वानाम् ।

तव पत्रं नैवास्तोति श्वद्गौरवान्मयोक्तमिति सूचयन्सन्धिस्वोकारे ब्रह्म-
गमने पापोवाजंनमप्रतिष्ठा चेति व्यङ्ग्यश्लेषार्थां सूचयति—किं किमिरे-
ति । किमिरे-भोगविलासपात्रमिश्रितत्वात्कर्तुरं यच्चरिषं तेन चित्रिता-
विचित्रवर्णोपितो विधिर्विधानं यस्य यस्मिन्वा तम्, नौरोजं-नौरोजनामकं
विपण्णि 'मीनाधाजार' इति लोके । नौरोज इति इत्थकपित्थादिवद्
रुद्रिशब्दः । आलोकितुं-द्रष्टुं चिन्तितपदस्थाने-अभिमतपदस्थाने
प्रतिष्ठया-संमानेन स्थितिर्यस्य स तस्य । पक्षे-निन्ता संजाता यस्मि-
न्निति चिन्तितं, तच्च तत्पदं चिन्तितपदम्, तस्य स्थाने । चिन्नायुक्ता-
धिकारस्थाने अप्रतिष्ठया स्थितिर्यस्य स तस्य । अप्रतिष्ठापूर्वकं विद्य-
मानस्य तेऽपि तत्रापि एवंदद्यामागन्तुमित्यर्थः, तत्र चेनः धावति ।
इह सर्वेऽपि अप्रतिष्ठयैव स्थिता इति तवागमने त्वमप्यप्रतिष्ठया
स्थास्यसीति व्यज्यते । वयं पृच्छामः । तव कृतौ प्रतापः स्वाभिमानो
वीरो नायं सन्धि प्रार्थयते इति तत्र कार्यं स्वके स्वान्ते आत्मचित्ते
किञ्चिद्गौरवं ब्रह्म धारयाम किमु । वा-अथवा संसद्गताः-अकवरपरि-
पदि प्राप्ताः त्रपथा-स्रजया, अवनम्राणि-किञ्चिन्नम्रोभूतानि, शिरांसि
मस्तकानि येषां ते तथाभूतास्वस्तस्तिष्ठाम । मया अन्यथा ज्ञातं न तथा-
भूतो वीरः प्रताप इति स्वपक्षपराजयाल्लज्जयाऽवनतमस्तकास्तिष्ठाम ।
संप्रश्ने लोट् ॥ १८ ॥

पुनस्तस्य कौर्तिप्रलोभनेन श्लेषेण सन्धि निषेधयति—
लीलेति । लीलाया-अनायासेन संमिलितः-आच्छादितः इन्दुश्चन्द्रो यथा
ताम् । यदीयधवलिम्ना सर्वमेव धवलं जातमिति चन्द्रो नावगम्यते । तथा
तुहिनं तुषारः, हिमगिरिः-हिमाचलः, चौरं-दुग्धं, ताराः-नक्षत्राणि,
अञ्जकान्तः-शुभ्रवर्णं मणिः, ज्योत्स्ना-चन्द्रिका, नागेन्द्रः-शेषः

ऊर्ध्वाधोमध्यभागे निखिलबुधजनैः स्तूयमानां स्वकीर्तिं
 हित्वा किं विग्रहार्थं त्रिदशसुखमनादृत्य यास्यात्मनाशम् ॥१६॥
 (इति पत्रं लिखित्वा सर्वाङ्गभावयति । सर्वसमत्वं सन्धिसमर्थकमर्थं
 विधाय विश्वस्तेन स्वकीयानुचरेण राजचारैस्सह प्रतापसमीपं प्रेषयति ।
 ततो निष्क्रमितुं परिक्रामन्ति सर्वे ।)

पटोलयनम्

(इतश्चोद्दिग्गः शिलातले निपयणः प्रतापश्चन्दावदिन्दोर-(इन्द्रपुर-)
 सामन्तसमन्वितश्चिन्तयति ।)

प्रता०—अहो क्षणिकसुखलिप्सया भया महदनुचितमाचरितम् ।
 सन्धिप्रार्थनया सर्वं नाशितं सुमहद् यशः ।
 आः ! स्वहस्तेन पदयोः पातिता दास्यशृङ्खला ॥ २० ॥

ऐरावतो वा । शङ्खः प्रसिद्धः, अर्जुनः-अर्जुनवृक्षः, स च कविसमये
 शुभ्रवर्णतया प्रसिद्धः, कुसुमानि-पुष्पाणि, एतानि कविसमये शुभ्रव-
 र्णान्येव । सुधा-शुभ्रवर्णं लेपनद्रव्यम्, अमृतं वा । जाल्मवी-गङ्गा,
 एतेषां द्वन्द्वे द्वितीयावहुत्वे । ताः निह्नुषानामपनयन्तीम्, ऊर्ध्वाधोम-
 ध्यभागे त्रिभुवने, निखिलाः-समस्ता ये बुधजनाः-विद्रज्जनास्तैः स्तूय-
 मानां स्वकीर्तिं हित्वा-परित्यज्य त्रिदशसुखमनादृत्य देवसुखं परिभूय
 विग्रहार्थं-विग्रहाय आत्मनाशं किं यासि किमर्थमात्मानं नाशयसि ।
 तस्माद्दिशो नैव कर्तव्यः, विरोधकरणे तव नाशो भविष्यतीति भावः ।
 पक्षे विग्रहार्थं-शरीरार्थं क्षणमद्भुरशरीरसुखार्थमात्मनाशं किं यासि,
 शरीररक्षार्थं क्रियमाणे सन्धौ पूर्वोक्तगुणविशिष्टायास्तव कीर्तेः नाशो
 भविष्यति, कीर्तिनाशे आत्मनाशः स्वत एव सिध्यति । संग्रामे स्वर्गप्रा-
 प्तेस्त्रिदशसुखप्राप्तिर्भविष्यति । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' इति संग्रामे
 मृतस्य स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति भगवता गीतायामुक्तम् ॥ १६ ॥

अथ स्वयमुद्बुद्धः प्रतापः सन्धिप्रार्थनमनुचितं मन्यमानः कथयति-
 सन्धीति । मया सन्धेः प्रार्थना तथा सन्धिप्रार्थनया सर्वमशेषं सुमहत्
 शोभनं-विपुलं यशः नाशितम्, सुमहदित्यसमस्तमेव । 'आः इति

(इति सोद्वेगमुच्छ्वसिति)

चन्दावत्—महाराज ! कुतोऽयमुद्वेगः, प्रतीक्षस्व तावत्किमयं सन्धी कथयति ।

प्रता०—ममाभिमतानुरूपसन्धिस्वीकारेऽपि महदेव कष्टम् ।
सन्धी समेतं नतकन्धराङ्गं

निरुद्धवीर्याहिमिवोच्छ्वसन्तम् ।

विलोक्य मां मानसमानभावाः

समागताः स्मेरमुखा भवेयुः ॥ २१ ॥

एतदनादरसहनान्मरणमेव श्रेयः (इति महतो दुःखात्पुनरु-
च्छ्वसिति)

इन्दोरसामन्तः—महाराज ! अलमुद्वेगेन ।

महास्त्रेदे । महादुःखम् स्वहस्तेन पदयोरारामनः पदयोर्मध्ये दास्यशृङ्खला-
दासतायाः शृङ्खला पातिता ॥ २० ॥

स्वामिमतसन्धिस्वीकारेऽपि कष्टमेवेति दर्शयति—सन्धाविति ।
सन्धी-सन्धिविषये, समेतं-प्राप्तम्-अकथरपरिपदि यातम् । अत एव नतं-
नम्रोभूतं कन्धराङ्गं यस्य स तम् । सन्धिप्रार्थनया सन्धिकरणार्थं
गतमिति लज्जावनतमुखम् । अत्यधिकनम्रतायां कन्धरप्रदेशादवनतं
भवति । निरुद्धं वीर्यं पराक्रमो यस्य सः, तथाभूतश्चासौ अहिः-सर्पस्तभिव
उच्छ्वसन्तम्, रुद्धपराक्रमसर्पवद्दीर्घोच्छ्वासं कुर्वन्तं मां विलोक्य-दृष्ट्वा
समागताः-सभायां प्राप्ताः, मानेन-मानसिद्धेन समानो भावो येषां ते
तथा मानसिद्धवन्मम परिपन्थिनः, अथवा-मानसे-मनसि मानभावो
येषां ते तथा । येषां हृदये मम संमानमस्ति । अथवा माने-मानविषये
समानभावो येषां ते । यथा वयमपमानितास्तिष्ठामस्तथा अयमपि मम
समान एव जात इति मानसमानभावाः स्मेरमुखाः-स्मेरमीपद्दास्ययुक्तं
मुखं येषां ते तथाभूता भवेयुः-मविष्यन्ति । संभावनाया लिङ् ॥ २१ ॥

इन्दोरसामन्तः प्रतापस्योद्वेगं परिहरन्स्वचयति—यावदिति । भौम
भुजैः अतिशयितबलयुक्तत्वाद्भयावहैः भुजैर्बाहुभिर्विमर्दिता-वित्रासिताः

यावद्भीमभुजातिमर्दितगजाः संग्रामनिष्णातकाः

हस्तोद्धृतनिशातखड्गनिहतत्वद्वैरिवीरव्रजाः ।

जीवामो वयमत्र सन्धिकरणं तावन्न ते शोभनं

सन्ध्यर्थं निपतिष्यति स्वयमसौ म्लेच्छाधिपस्त्वत्पदे ॥२२॥

प्रता०—कुतोऽस्यावसरः ? मया च सन्धिप्रार्थनं कृतमेव ।

चन्दा०—महाराज ! अलं विचारेण ।

क्षणेनैव विधाष्यामः सन्धेः सोपधिदूषणम् ।

रक्षणारक्षणे तस्य त्वदधीने च केवलम् ॥ २३ ॥

(अत्रान्तरे समुपतिष्ठते भिल्लराजो गुहः ।)

प्रता०—किमस्ति ।

गुहः—आगराण्यरश्चो पत्तं गहिष्ठण वीकाण्यरजुवराअस्स
आगरानगरात् पत्तं गहीत्वा वीकानगरयुवराजस्य

गजा इस्तिनो यैस्ते तथा, इस्तिनामपि वित्रासकाः । तथा संग्रामे
निष्णातकाः सदैव संग्रामतत्पराः । तथा इस्तैः उद्धृता ऊर्ध्वमुत्थाप्य
कम्पिता ये निशातखड्गास्तीक्ष्णकरवालास्तैर्निहता विनाशितास्त्वद्वैरि-
वीराणां व्रजाः—समूहा यैस्ते । एवंभूता वयमस्मदादयो यावज्जीवामस्ता-
वत्पर्यन्तमत्र अकथरे अस्मिन्परतन्त्रताविषये वा ते—तव सन्धिकरणं
शोभनं न, त्वया सन्धिर्नैव कर्तव्य इति भावः । असौ म्लेच्छाधिपः—
म्लेच्छराजः स्वयं सन्ध्यर्थं—सन्धिकरणार्थं त्वत्पदे निपतिष्यति । वक्ष्यमा-
णमकबरस्य सन्धिप्रार्थनं बीजहृषेण उपक्षिप्यते इति भावः ॥ २२ ॥

अथ चन्दावन्मन्त्री सन्धिप्रार्थनया उद्विजमान प्रतापं कथयति—
क्षणेनेति । वयं सन्धेः सोपधिदूषणम्, इदं त्वयानुचितमाचरितमित्या-
दिदोषारोपेण सन्धिच्छेदं क्षणेनैव—अतिस्वरूपेण कालेन विधास्यामः—
संपादयिष्यामः । तस्य सन्धेः रक्षणारक्षणं च केवलं त्वदधीने—त्वदायत्ते
एव । यदि भवानिच्छेत्तदा सन्धेः रक्षा भविष्यति । यदि भवान्नेच्छेत्तदा
सन्धिश्च्युटितो भविष्यति । तस्मात्सन्धिकरणेऽपि न किञ्चित्ते हतं
भविष्यतीति भावः ॥ २३ ॥

पुढवीसीहस्स अणुअरो आगओ । अन्हो तं पव्वयप्पंते
 पृथ्वीसिहस्य अनुचर आगत । अह त पव्वंतप्रान्ते
 ठावइऊण तुम्हाण समीवम्मि पत्तो ।
 स्थापयित्वा युष्माकं समीपे प्रातः ।

प्रता०—तं प्रवेशय ।

(ततः प्रविशति गुहेन सह पृथ्वीसिहानुचरः ।)

अनुचरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराज. । (इत्युक्त्वा पत्र समर्पयति ।)

(प्रताप पत्र गृहीत्वा स्वयं वाचयति सर्वान् भावयति च ।)

प्रता०—अस्मदीयं सन्धिपत्रमिति संदिग्धमेव ।

इन्दोरसा०—अथ किम् ।

चन्दा०—इदमतिशोभनं जातम् ।

प्रता०—(पृथ्वीसिहस्य पत्रोत्तरं लिखित्वा सर्वान् भावयति ।)

युक्तमुद्वृद्धितं काले प्रेम्णा साधु त्वयोदितम् ।

अवेहि पत्रोत्तरणे क्रियां केवलमुत्तरम् २४ ॥

सर्वे—साधु साधु ।

(ततः पत्रोत्तरं गृहीत्वा निष्क्रामति पृथ्वीसिहस्थानुचरः ।)

प्रता०—(इन्दोरसामन्तं गुहं चाभिलक्ष्य आशापयति ।)

अथ प्रतापः पृथ्वीसिहाय पत्रोत्तरं लिखित्वा चन्दावदादीन्
 भावयति । क्रियया यमभिप्रैति साऽपि सप्रदानम् इति सप्रदानत्वाच्चतुर्थी ।
 युक्तमिति । काले समुचितावसरे तत्र अक्षरसभायां, सन्धिसमुखस्य
 मम सन्धिकरणवेलाया वा युक्तमुचितमुद्वृद्धितम् । अक्षरसभायामस्मत्कृ-
 तसन्धिसखण्डने मम प्रतिबोधने वा साधु कथितम् । त्वं पत्रोत्तरणे
 स्वकीयपत्रोत्तरविषये केवलं क्रियामस्मद्भ्यागारम् उत्तरमवेहि जानीहि ।
 यो हि मम व्यापारो भविष्यति स एव सन्धिप्रार्थनाप्रार्थनयोरुत्तरं
 भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ प्रतापः अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आशापयन्नपवदति—

विप्रस्वं यज्ञकार्योद्घृतमथ गणिकां हीनदीनां च नारीं
बालां सोमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्धं क्षुधार्तम् ।
मूर्च्छालं चाप्यवीरां शरणगतमथो सर्वथैतानि हित्वा

ज्ञात्वा शत्रोः प्रजानां सकलमपि धनं सर्वथा लुण्ठयध्वम् ॥२५॥

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । चन्दावत्सहितः प्रतापः परिक्रामन् वने
प्रविशति । अन्ये निर्गच्छन्ति ।)

पटोल्लयनम् ।

(एतमाशापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषितान्युपा-
यनानि गुर्जरभागं लुण्ठयन्ति । पुर्तगालाधिपतिं गृहीत्वा कथयन्ति ।)
इन्दोरसा०—रे पुर्तगालीय ! कस्मादिदमानीतम् ? केन कस्मै
च प्रेषितम् ?

विप्रस्वमिति । तत्र परिगणयति-विप्रस्य-ब्राह्मणस्य स्वं-धनम्, अकबर-
प्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धनं, तथा यज्ञकार्योद्घृतम्-अनेन द्रव्येण यज्ञकार्यं
भविष्यतीति बुद्ध्या निष्काशितं यद् द्रव्यम्, अश्वघासादिवत्पृथीतत्पुरुषः ।
तथा गणिकां वेश्यां, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात् ।
तथा हीनां-हीनजात्युद्भवां, दीनां-दुःखितां च नारीं स्त्रियम् । एतेन
हीनजात्युद्भवाया एव दीनस्त्रियाः प्रतिषेधो नत्वन्यासाम् । तथा पतित-
मपिजातिबहिष्कृतम्, महारुग्णं-कुष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्ध-
दृष्टिरहितम् । क्षुधार्तं-क्षुधापीडितं क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्योपेतम् ।
मूर्च्छालं-मूर्च्छोपेतम्-तथा अवीरां-पतिपुत्ररहिताम्, 'अवीरा निष्पतिमुता'

अथ प्रताप अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आज्ञापयन्नपवदति—

विप्रस्व यज्ञकार्योद्घृतमथ गणिका हीनदीनां च नारीं
बालां सीमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्ध क्षुधार्तम् ।
मूर्च्छाल चाप्यवीरां शरणगतमथो सर्वथैतानि हित्वा
ज्ञात्वा शत्रोः प्रजानां सकलमपि धन सर्वथा लुण्ठयध्वम् ॥२५॥
(तत सर्वे उत्तिष्ठन्ति । चन्दावत्सहित प्रताप परिक्रामन् वने
प्रविशति । अन्ये निर्गच्छन्ति ।)

पटोन्नयनम् ।

(एवमाज्ञापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषिता-युपा-
यनानि गुर्जरमार्गे लुण्ठयन्ति । पुतगालाधिपति गृहीत्वा कथयन्ति ।)
इन्दोरसा०—रे पीर्तगालीय ! कस्मादिदमानीतम् ? केन कस्मै
च प्रेषितम् ?

विप्रस्वमिति । तत्र परिगणयति विप्रस्य ब्राह्मणस्य स्व-धनम्, अकबर-
प्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धन, तथा यज्ञकार्योद्घृतम् अनेन द्रव्येण यज्ञकार्यं
मविष्यतीति बुद्ध्या निष्काशितयद् द्रव्यम्, अश्वघासादिव पट्टीत-पुरुष ।
तथा गणिका वेश्या, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात् ।
तथा हीना-हीनजात्युद्भवां, दीना-दु खिता च नारीं स्त्रियम् । एतेन
हीनजा-युद्भवाया एव दीनस्त्रिया प्रतिषेधो न-वन्यासाम् । तथा पतित-
मपिजातिवहिष्कृतम्, महारुग्ण-कुष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्ध-
दृष्टिरहितम् । क्षुधार्त-क्षुधापीडित क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्यापेतम् ।
मूर्च्छाल-मूर्च्छपितम्-तथा अवीरा-पतिपुत्ररहिताम्, 'अवीरा निष्पतिसुता'
इत्यमर । तथा शरणगतम्-अह त्वदीयस्त्वमेवास्माकं प्रातेति बुद्ध्या
शरणं प्राप्तम्, एतानि 'त्यदादितः शेषे पुनपुसकतो लिङ्गवचनानि'
इत्येकशेषे 'पुनपुसकपोस्तु परत्वा-नपुसक शिष्यते' इति नपुसकलिङ्गता ।
एतानि पूर्वोक्तानि हित्वा-परित्यज्य सकलमपि शत्रोरकबरस्य प्रजानां
धन ज्ञात्वा सर्वथा लुण्ठयध्वम् । बलपानादिकं सर्वमपि लुण्ठितव्यमेक
वसना एव ते विधातव्या इति भावः । ज्ञात्वा-पुत्रेयं दकबरप्रजाया धनं
न स्यात्किन्तु केनापि तद्द्वाराया प्रेषित स्यात्तत्रैव लुण्ठितव्यमपि तु
न्त्यरित्वाज्यमेवेति तात्पर्यायं ॥ २५ ॥

पौतंगा०—पुर्तगालदेशादिदमानीतम् । पुर्तगालराजेन भारतेश्व-
राय प्रेषितम् ।

इन्दोरसा०—साधु साधु । को नाम भारतेश्वरः ?

पौर्त०—अकबरः ।

इन्दोरसा०—नहि नहि भ्रान्तोऽसि । इदानीं भारतेश्वरः
सुगृहीतनामा महाराणाप्रतापः, तेन तवोपायनानि
गृहीतानि । अथ गच्छ यथेच्छस्थानम् ।

(इति स निर्गच्छति । पुनस्ते अरण्ये प्रविशन्ति ।)

(पटोन्नयनम्)

(इत आगरानगरे परिपशुपविष्टः सामन्तादिपरिवृतोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अकबरः—मानसिंह ! कथमद्यापि पृथ्वीसिंहानुचरो नायातः ।

किं नाम केनापि तद्वैरिणा मम क्षणिकसुखसंपादनाय
मायिकमेवेदं कृत्यं विहितमिति सत्यं स्यात् ।

मान०—संभाव्यते चैवमपि, परंतु पृथ्वीसिंहानुचरस्यागमना-
नन्तरमेव निश्चेष्यामः ।

अक०—मानसिंह ! तावत्प्रतापदूतमानय, निश्चेष्यामः केन कुतः
स्थानात्पत्रं दत्तम् ।

(मानसिंहः स्वयं गत्वा आरक्तकाधिपतिमाहूय तेन सह अकबर-
सविधे प्रविशति ।)

आरक्तकाधिपतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कुत्र प्रतापदूतः ?

आर०—स च तस्मिन्नेव दिवसे त्वदीयाज्ञापत्रेण निष्काशितः ।
(इत्याज्ञापत्रं दर्शयति ।)

अक०—संबदन्ति मदीयानीवेमान्यक्षराणि । परं कस्येयं माया
स्यात् ?

मानसिंहादयः—(दृष्ट्वा) बाढं भवदीयानीवेमान्यक्षराणि । बाढं
स चतुरो मायिकः ।

(ततः प्रविशति स्वानुचरसहितः पृथ्वीसिंहः ।)

पृथ्वी०—जयो योगमायायाः । (इत्युक्त्वा यथास्थानमुपविशति ।)

अक०—(सस्मितम्) किमुक्तं त्वदीयेन मेवाडाधिपतिना प्रतापेन ।
(पृथ्वीसिंहः प्रतापपत्रं दर्शयति ।)

अक०—('अवेहि पत्रोत्तरणे क्रिया केवलमुत्तरम्' इति वाचयन्सर्वाङ्ग
भावयति ।)

मानः—नैतावताऽवगम्यते, सन्धिक्रिया विरुद्धक्रिया वा ।

(अत्रान्तरे प्रविशति संभ्रान्त. पुर्तगालराजस्य दूतः ।)

दूतः—(रुदन्) महाराज ! लुण्ठितोऽस्मि ।

अक०—कस्त्वम् ? कथं लुण्ठितोऽसि ?

दूतः—महाराज ! पुर्तगालराजेन भवदर्थमुपायनीभूतानि बहु-
मूल्यानि रत्नानि प्रेषितानि, तानि गुर्जरप्रान्ते लुण्ठाकाः
'भारतेश्वरः प्रतापस्तस्यैवेदमुपायनम्' इत्युक्त्वाऽलुण्ठन् ।
(अत्रान्तरे पुनः प्रविशन्ति श्रेष्ठिनः प्रजाजनाश्च ।)

श्रेष्ठिनः—हा ! हताः स्मः वयं सर्वे लुण्ठिताः ।

अक०—कैः ?

श्रेष्ठिनः—स्वस्वामिनं भारतेश्वरं मन्यमानैः प्रतापानुचरैः ।

प्रजाजनाः—हा ! हताः स्मः, अस्माकं सर्वस्वमेव लुण्ठितम् ।
वयमेकवसन्ता एव कृताः स्मः ।

अक०—कैः ?

प्रजा०—आरसनः प्रमुं प्रतापं भारतेश्वरं मन्यमानैर्भिल्लमीणा-
दिभिः ।

पृथ्वी०—(अकवरमभिलक्ष्य) महाराज ! मन्ये तदुत्तरणे इयमेव
क्रिया स्यात् ।

अक०—अथ किम् । इयंमात्रमणक्रिया तदुत्तरम् । मन्ये तत्पत्रं
न तेन लिखितम् ।

पृथ्वी०—एतद्दृष्ट्यापारेण तु इदमेव निश्चीयते ।

अक०—मानसिंह ! धिक् त्वाम् बहुतरद्रव्यनाशेऽपि नायं
प्रतापस्त्वया धृतः । मिथ्याभिमानिना त्वया किं तस्य
कृतम् । त्वदर्थे एव मया तेन सह वैरं विहितम् । त्वं
निस्सर यावत्प्रतापस्त्वया न निगृह्यते मेवाडाद् वा न
निस्सार्यते तावत्परिपदि न प्रवेष्टव्यम् ।

(मानः किञ्चिद्बहुमभिलषन् स्थितः ।)

अक०—(सक्नोधम्) याहि याहि निस्सर ।

मानः—(मनसि) ज्ञातिद्वेषफलमिदमनुभूयते । यत्सर्वसमक्षं शुनक
इव तिरस्कृतोऽस्मि ।

(प्रकाशम्) धैर्यं दधातु भवान् ।

अक०—लुण्ठाकैः सकलोऽस्मदीयविपयः संत्रास्यते दुर्जनैः
सर्वस्वं ह्रियते प्रजाजनगतं जीवान्परत्तन्नहम् ।
एकेनैव वनेचरेण निहतः पन्थाः सुखस्योदये
राज्यं पूषोमराजकं कृतमतो धैर्यं मयि स्यात्कथम् ॥२६॥

अकवरो धैर्यस्य नायमवसर इति दर्शयति—लुण्ठाकैरिति । दुर्जनैः
दुर्घैःलुण्ठाकैः प्रतापानुचरैर्मिल्लमीणाजाःयुद्धवैः सकलः—समस्तः अस्म-
दीयविपयः—अस्माक देशः संत्रास्यते—उद्वेज्यते । ते सकलमस्मदीयदेश-
मुद्वेजयन्तीत्यर्थः । प्रजाजनगतं प्रजासविधे यद्विद्यमानं तत्सर्वस्व—सर्वं
घनं ह्रियते—हठाद् गृह्यते । अहमरत्नं प्रजाधनस्य रत्नामकुर्वन् सन्
जीवामि अहा इत्याश्चर्ये । राज्ञोऽयं धर्मः । यदि प्रजाधनं रक्षितं न
प्रभवति तदा लुण्ठाकानां सम्भ्रमणं गत्वा रणे म्रियेत, राज्यं वा परित्यजेत् ।
धर्मशुस्तदकुर्वन् न ह जीवामीत्याश्चर्यम् । एकेनैव प्रधानभूतेन प्रतापेनैव
एवकारोऽन्ययोगव्यरच्छेदको न तु बहुभिः तत्रापि वनेचरेण अरण्य-
वासिना । एतेन अतितुच्छत्वं तस्य सूच्यते । सुखस्य उदये, प्रजाया मम
च सर्वेषामपि सुखप्रारम्भे पन्थाः मार्गो निहतः, येन मार्गेण सुखस्य
प्रारम्भो भवति स मार्ग एव नाशितः । एतेन सर्वथा सुखस्याभावः
सूचितो भवति । राज्यमस्मदीयं राज्यं पूर्णं सर्वतोभावेन अराजकं कृतम् ।

यः प्रतापं निगृह्णीयात्स मम राज्यलाभस्य दशमोशमागो
स्यात् । (पुनः किञ्चिन्द्धान्तः सन्) मानसिंह ! गच्छ त्वं
यथेच्छं साहाय्यमादाय प्रतापं तस्य पुत्रं कन्यकां स्त्रियं वा
निगृह्णीयाः ।

मानः—यदि मेवाहं परित्यज्य नासौ पलायते तदैतं हनिष्यामि,
ग्रहोष्यामि वा ।

अक०—एयमेव त्वयि संभाव्यते ।

(ततो निष्क्रामति सामन्तपरिवृतः प्रजाजनसहितो मानसिंहः पृथ्वीविदग्धः।)
(वीरवरेण मन्त्रिणा च समन्वितोऽरुचरस्तिष्ठति ।)

अक०—(मनसि) अयं पृथ्वीसिंहः प्रतापपत्न्यात्, अतो मेवाह-
कन्यकामस्य पत्नी स्ववशमानये । ततोऽयं तत्पुत्रं विहाय
मम वशवर्ती भविष्यति ।

(प्रकाशम्) मया स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणार्थं विपणिः
स्थापिता । तत्रैवं भवतु—

सकलविपणिमध्ये सर्वतः संचरेयु-

नवनववसनाद्यैर्भूषिताः सद्विभूषाः ।

•• विविधविषययाता योपितश्चैकभाषा

इति मम नवरोजः कामपूर्तिं विदध्यात् ॥२७॥

एवं विहितं यथैवं प्रतीयते अत्र राज्ये प्रजापालकः कोऽपि राजा नैवा-
स्ति । अतः अराजकताकरणात् मयि धैर्यं कथं स्यात् । नाहमस्यां
दशायां धैर्यं घर्तुं शक्नोमीति भावः ॥ २६ ॥

नासौ पलायते इति । एतेन पण्डाङ्के वक्ष्यमाणो देशपरित्यागो
शीजरूपेण उपलक्ष्यते ।

अथ नवरोजाख्य (भीमावाजार इति लोके) विपणौ जिगमिपुर-
कन्नरो मन्त्रिणमादिशति—सकल्लोति । नवनववसनाद्यैः—नवातिनधैर्बन्ध-
भूषणैर्भूषिताः शोभिताः, तथा सती उत्तमा विभूषा नैपथ्यरचना यासां
तास्तथा विविधाः नानाविधा ये विषया देशास्तेभ्यो याताः—आगताः,

अहमपि प्रच्छन्नवेपस्तत्राद्य गमिष्यामि ।

(मन्त्रिणः कथं-एवमेव ।)

वीरवरः—(तदभिप्रायमभिलक्ष्य) किमिदं चिकीर्षति भवान् ?

अन्तःपुरे स्वे सुमनोहराभी

रम्भोरुभिर्हाटककान्तिकाभिः ।

रम्भादिकाभ्योऽप्यतिशायिनीभिः

स्त्रीभिः कथं तुष्यति नो तवात्मा ॥ २८ ॥

अथवा विविधा ये विषया-बह्वताम्बूलभूषणादिविक्रयास्तथा जलानयन-संमार्जनादिकानि तत्र याताः-प्राप्ताः, बह्वाभूषणादिसकलवस्तूनां क्रयविक्र-यादिकं स्त्रिय एव कुर्वन्तिवति भावः । एका एव भाषा यासां तास्तथा-भूताः देशभेदाद् भिन्नभाषा अपि ता एकभाषया भाषन्ताम्, एतेन तदुक्तं स्वेन, स्वोक्तं ताभिरवगतं स्यादिति तदभिप्रायः । योषितः-स्त्रियः, सकला-समस्ता या विपणिः-पण्यवीथिका तस्या मध्ये सर्वतः-सर्वतो-भावेन संचरेयुः, तत्र स्त्रिय एव संचरन्तु नच कस्यापि पुरुषस्य तत्र संचारोऽपि स्यादिति तदाशयः । इति अमुना प्रकारेण नवरोजो मम कामपूर्तिं स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाभिलषितम्, अथवा संभोगेच्छाविषयका-भिलाषपूर्तिम् । अथवा कामस्य-मनोभवस्य पूर्ति-यथेच्छमनोभवतृप्तिं विदध्यात्-करोतु । एतेन अभिलाषातिशयो द्योत्यते ॥ २७ ॥

अथ वीरवलस्तदभिप्रायमवगत्य परस्त्रीसंसर्गात्प्रतिषेधते—अन्तःपुरे इति । सुमनसो-देवास्तेषां हराभिः, सौन्दर्येण देवानप्याकर्षयन्तीभिः, यासां सौन्दर्यमवलोक्य देवा अप्यभिलषन्ति । यद्वा-सुमनसः पुष्पाणि तासां हराभिः, स्वशोभया पुष्पाणि हरन्तीभिः, स्वकान्तिसमत्तं पुष्पशोभां नाशयन्तीभिरित्यर्थः । अथवा-सुष्ठु शोभनप्रकारेण मनसो हराभिः, अति-सुन्दरीभिरित्यर्थः । तथा रम्भा इव कदलीस्तम्भसदृशौ ऊरु यासां तास्तथा, हाटकस्य-सुवर्णस्य कान्तिरिव कान्तिर्यासां तास्तथा रम्भादिका-मपि । रम्भामेनकातिलोराभांमपि सौन्दर्यवत्त्वेन अतिशायिनीभिः अति-

अलं राजधर्माद्विरुद्धेन सुतामावृतुल्याभिः परस्त्रीभिः सह
व्यभिचारेण ।

अन्योपमुक्तां परकीयकान्तां भोक्तुं न ते धावतु चित्तवृत्तिः ।
उच्छिष्टभोजी खलु सारमेयस्तस्मात्परीवादपदं च मा गा ॥२६॥
अक०--धीरवर ! राजधर्मपरिज्ञाने त्वं तावद्दाल एव । नैव विधेषु
कार्येषु राजधर्मः परिपन्थी भवति ।

शृणु तावद्राजधर्मम्—

प्रजां पुत्रमिवेक्षेत स्वात्मानमिव पालयेत् ।

समासेनाथमाख्यातो राजधर्मं पुरस्तव ॥३०॥

क्रान्तवतीभिः स्त्रीभिः तवात्मा-स्वदीयाचित्तवृत्तिः, स्वे-स्वकीये अन्तःपुरे
कथं नो तुभ्यति । तथाभूताभिरतिमुन्दरीभिः स्त्रीभिः सह तवात्मा कथं न
तुष्टो भवतीति भावः ॥ २८ ॥

अथ परस्त्रीसर्गो घृणा निन्दा च दर्शयन् प्रतिषेधते-अन्येति । ते
तव चित्तवृत्तिः, अन्येन-अन्यपुरुषेण उपमुक्ता परकीयकान्ता-परस्त्रियम्,
अथवा-परकीया कान्ताम्, स्वकीयातिरिक्तामन्यस्त्रियम् । एतेन विनाय-
धीनतया कन्याया अपि परकीयात्वम्, तुभ्यमदत्ता कस्यचित्कन्यका च,
भोक्तुं न धावतु-उपभोक्तुं नैव गच्छतु । अन्योपमुक्तमोक्तृत्वे घृणा
प्रदर्शयति—उच्छिष्टभोजी-अन्योपमुक्तपरित्यक्तभोगी, सारमेय-शुनकः ।
खलु इति निश्चये । सारमेय एव उच्छिष्टभोजी भवति, नान्य इत्यर्थः ।
तस्मात्परीवादपदम्-आक्षेपस्थानं मा गा । लोकास्त्वा सारमेय कथ-
विध्यन्तीति भावः ॥ २९ ॥

अथाकवरोऽन्यदोषस्वीकृत्य केवलं राजधर्माद्विरुद्धता निरस्यति ।
नत्र राजधर्मस्वरूपं प्रदर्शयति—प्रजामिति । प्रजां पुत्रमिव ईक्षेत, यथा
पुत्रकण्ठे उद्विग्नः सन् शीघ्रमेव तन्निवृत्त्यर्थमुपायं करोति एवमेव प्रजा-
कण्ठेऽपि शीघ्रमेवोपायं कुर्यात् । स्वस्य आत्मानमिव पालयेत् । दुष्काल-
समये भोजनादिदानेन तां पालयेत्, कण्ठं च न दद्यात् । अथ राजधर्म-
स्तव पुरस्तवाग्ने मया समासेन-सक्षेपेण, आख्यात-कथितः । राजधर्मं
एतदेव तत्त्वमिति भावः ॥ ३० ॥

किञ्च—ईतावापत्तिकाले च प्रजायाः पालनं चरेत् ।

व्यसनाद्भयतो रक्षेदेव धर्मो महीपतेः ॥३१॥

अन्यच्च—धर्मादर्थं न वा कामं बाधयेत् विचक्षणः ।

धर्मकामौ न चार्थेन कामाद् द्वौ नेति निर्णयः ॥३२॥

अपिच—धर्मादर्थं विचिनुयादर्थोत्कामं च साधयेत् ।

कामो मनोऽनुकूलः स्यात्स्वर्गोऽस्माच्च परं किमु ॥३३॥

पुनराह—ईताविति । ईतौ—अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिसमये आपत्तिकाले आपत्तिसमये चौराग्निभयादिसमये प्रजायाः पालनं चरेत्—अन्नवसनादि-साहाय्यदानादिना प्रजाया रक्षणं कुर्यात् । व्यसनात् द्यूतमद्यादिव्यसना-दिभ्यः भयतो व्याघ्रादिमयाच्छत्रुमयाच्च रक्षेत् प्रजाया रक्षां कुर्यात्, एव महीपते राज्ञो धर्मः, एव राजधर्म इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

पुनः राजधर्मं धर्मार्थकामानां व्यवस्थामाह—धर्मादिति । विचक्षणः-उत्तमविवेका राजा धर्मात् अर्थं न बाधयेत्, न च कामं धर्मात्काममपि न बाधयेत् । नैवं प्रकारेण धर्मो आसक्तः स्यात् येन अर्थसाधककार्यमेव विनश्येत् । नापि नितान्तं कामं परित्यज्य धर्ममेव सेवेत् । किन्तु अर्थ-कामावबाधयित्वैव धर्मं सेवेत् । एवमर्थेन धर्मकामी न बाधयेत् । नैवार्थ-लिप्सया अधर्मेण अर्थोत्पन्नं कुर्यात्, तथा कामस्य व्ययसाध्यत्वादर्थ-लिप्सया काममपि न परित्यजेत् । तथा कामाद् द्वौ पूर्वोक्तौ धर्मार्थौ न बाधयेत् । अयमर्थः—न च कामलिप्सया धर्मविरुद्धं भगिन्यादिगमनं कुर्यात् । नापि कामेन सर्वथा अर्थं नाशयेत् इत्येव निश्चयः । सकल-शास्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽयमर्थ इति भावः ॥ ३२ ॥

अथ पुनस्तत्प्रकारमाह—धर्मादिति । धर्मात् अर्थं—द्रव्योत्पन्नं विचिनुयात् । पुष्पावचयमिव द्रव्योत्पन्नं कुर्यात् । यथा पुष्पाण्यवचिन्वन् पुष्पवृक्षं न नाशयति, एवमेव धनमवचिन्वन् धनिनं न नाशयेत् । यतः पुष्पमिव पुनरपि धनं दद्यात् । विचिनुयात्सर्वेभ्यः किञ्चित्किञ्चिद् गृह्णी-यान्नचैकत एव सर्वं गृह्णीयादित्यर्थः । एवमर्थात् कामं—कार्यं साध-येत् । कामो मनोऽनुकूलः मनसः अनुकूलो मनोऽनुकूलः स्यात्, यत्र

मन्त्रिन् ! त्वं गत्वा तथैवारचय । अहमपि यथावसरं
प्रच्छन्नवेपः संचरिष्यामि ।

वीरवरः—/ नीचैः स्वरेण) नैवमवगच्छसि । यदा कस्या अपि
सावित्रीसमायाश्चण्डिकाया आयेंत्त्रियाया हस्ते
निपतिष्यसि तदैव राजधर्मं शिक्षिष्यसे ।

(इति वदन्निष्क्रान्तो मन्त्रिणा सह वीरबलः ।)

(अकबर एकाकी परिक्रामति ।)

पटोन्नयनम्

(अकबरः नयरोजे चण्डिकां पृथ्वीसिंहपत्नीं निग्रहीतुं दूतिकया
विमार्गेण स्वभवनेऽवरुणद्वि । ततः सर्वतः पिधीयन्ते कपाटानि ।)

चण्डिका—(मनसि) आः किमिदं जातम् । कथमहमवरुद्धाऽस्मि ।
अस्तु । संभाव्यते दुष्टनरपिशाचस्य नारकिणोऽकबर-
स्येदं कृत्यं स्यात् ।

(ततः प्रविशत्येकतः कपाटमुद्धाटयन्नकबरः ।)

अक०—एहोहि सुन्दरि ! मनोभवतापतप्तं
मां शीतलैःसुमसृणैः परितर्पयाङ्गैः ।

मनोऽभिरमते तदेव कार्यं कुर्यादित्यर्थः । अभिलापोपनीतं कार्यं साधये-
दित्यर्थः । अस्मात् एतस्माच्च परमधिकं स्वर्गं किमु-नातः परं स्वर्गेऽपि
किञ्चिदस्तीति भावः ॥ ३३ ॥

स्वर्गलक्षणं चैतत्—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च अस्तमनन्तरम् ।

अभिलापोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

अतो राज्यमुपलभ्य मनोऽनुकूल एव कामसुखोपभोगः कर्तव्य इति भावः ।
चण्डिका तन्नामा पृथ्वीसिंहपत्नी ।

अकबरश्चाट्टक्तिभिस्ता प्रलोभयति-एहोहीति । हे सुन्दरि-सौन्दर्य-
दुक्ते ! त्वमेहि एहि । अवश्यमिह मत्सकाशं प्राप्नुहि । त्वं मनोभवस्य-
कामस्य तापैतत्तप्तं-संतप्यमानं मां शीतलैः-शैत्यगुणविशिष्टैः, तापे शीतलं

दासस्त्वदीयमुखपद्ममसौ द्विरेफः

पातुं यदिच्छति ततोऽनुगृहाण मुखे ! ॥३४॥

पटोन्नयनम्

पण्डिका—(मनसि) आः ! कथमसौ पापात्मा मामाकमितुमभिलपति । अहमेनं नारद्विशं पापाचरणफलमनुभावयामि (इति विचिन्त्य सहसा आत्रम्य तमकवरं पातयति । अग्निपुत्रिकां निष्कारय तस्य हृदये स्थापयति ।)

(अकवरः आसन्नमृत्युमियात्मानमवगत्य भयप्रस्तनयनो विह्वलः सन् दोनशरेण) मातः ! अनुगृहाण मुखं माम् ।

पण्डिका—आर्यस्त्रीणां सन्मुखं नैव परये-

स्तामिः सार्धं नैव काङ्क्षां विदध्याः ।

धर्मात्मनां मातरस्सुर्मदीया

इत्थं द्रुपाश्चेत्तस्यां त्यजामः ॥ ३५ ॥

मुगजनकं भयतोति मुगजनरे.मुगगृष्टैश्चिषण्णैः अग्नेः-स्वकीयेरथययैर्मु-
गोदरजङ्गादिभिः परितप्यं । पुन. पुनगतारभंगगेष धारमपनयेत्यर्थः ।
दासस्त्वदीयदासभूयः अगौ द्विरेफः-रेफद्वयविशिष्टो राजाऽकवरो भ्रमरो
वा स्वकीयमुगपद्मस्वदीय मुगमेव परं स्वदीयमुगकमर्लं पात्रुमपरोष्ठं पातुं
मुखं मातिशयं सुम्भितुं या यद् यस्मात्कारस्यादिच्छति ततस्तरमात्कारणात्
हे मुखे ! अज्ञातारमर्लं गगंतामे मूढे इत्यर्थः । अनुगृहाण अनुगृहं कुर्वि-
त्यर्थः ॥ ३४ ॥

अथ सा अकवरेण प्रविष्टां कारयति—आर्यस्त्रीणामिति । तम्
धारयन्त्यां संमुखं नैव परये, अदमद्-बुद्धयाऽपि ता द्रष्टुमिच्छान्
कुर्याः । तामि. सार्धं काङ्क्षां नैव विदध्याः । इच्छन्तीमिरनिच्छन् विदध
धारयन्तीभिः एह ममर्लं विदधितुं विदधामिति न कुर्याः । धर्मात्मनां आर्य-
विदधरदादा आर्यः सुः । अर्धं विदधस्वदीया धर्ममात्रा भयन्तु ।
धेदित्थं द्रुपाः कर्तुं नैकारस्य विदधित्तमनेन कपदेरातस्यां त्यजामः अगु-
नैव स्वरामा अन्दया मारयामः । वर्तमानशामोष्वाहृत् । 'अस्मदी
इतीय' इति बहुवचनम् ॥ ३५ ॥

अक०—आर्यस्त्रीणां संमुखं नैव द्रक्ष्यामि । ताभिः सार्धं नैव
काङ्क्षां विधास्ये । धर्मात् सर्वा आर्यस्त्रियो मे मातरः
सन्तु । मां मुञ्चतु मातः ! (इति दीनमिव प्रार्थयते)

चण्डिका—गच्छ । मुच्यसे मृत्युमुखात् (इति अक्षिपुत्रिकामुत्थाप्य
पृथक् स्थिता सती निष्क्रान्ता ।)

अक०—(स्वाङ्गानि परिमृञ्चन्नुत्तिष्ठति । भयादितस्ततोऽवलोक्य)
(मनसि) आः ! साक्षाच्चण्डिका रुद्राणी कालीव प्रचण्ड-
कोपा वीरासा । बाढं मेवाडभूमेरेवार्यं प्रभावः, यद्देशजाः
स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा भवन्ति, तत्रत्येषु पुरुषेषु कीदृशं
शौर्यं स्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत् । अहो देवान्मृत्युमुखा-
न्मुञ्चोऽस्मि । (प्रकाशम्) नातः परं नवरोजमाग-
मिष्यामि । (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्री महामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके पञ्चमोऽङ्कः ।

आः बाढमिति । स्त्रीषु नाद्यावद्विपर्यन्तमेतादृशं शौर्यमवलोकितम्,
यच्चेद दृष्टमनुभूतं च तद् बाढं निश्चयेन मेवाडदेशस्य भूमेरेव अयं प्रभावः।
इयं मेवाडदेशोऽग्नेति तद्भूमिप्रभावादस्यामेतादृशं शौर्यं जातमि-
त्यर्थः । स्त्रीपुरुषयोः शौर्यतारतम्येनाह । यद्देशजाः स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा
इति तासां तारतम्येन स्त्रीणामपेक्षया पुरुषेषु कियदधिकं शौर्यं भवतीति
पर्यालोचनाया मेवाडदेशोऽग्नेषु कीदृशं शौर्यस्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत् ।
वक्तुमशक्यमेवैतत् । तस्मादृश्यस्याभावान्नैवं वक्तुं शक्यते एतादृशं तेषु
शौर्यमिति भावः ।

सर्वे अकवरो दूतिप्रभृतयश्च ।

१ इति श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायविद्यावारिधिमथुराप्रसादकृतौ
वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीव्याख्याया पञ्चमोऽङ्कः ।

पष्ठोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इहाधित्यकाया स्थितौ मन्त्रिसमन्वितः प्रतापश्चिन्तयति ।)

प्रता०—श्रूयते महता धनेन मानभृतयः सन्नहारोहन्ति ।

चन्दा०—मन्त्री—एवमेवैतत् ।

मानोऽपमानाद्धनलिप्सयाऽन्ये

स्वान्तेन न स्वान्तमपि स्मरन्तः ।

अन्वेपयन्त्यद्रिगुहान्धुशास्त्रि-

प्राधित्यकोपत्यकयोर्भवन्तम् ॥ १ ॥

(तत प्रविशति मुकुलितहस्तो निःश्वसन् गुहः ।)

गुहः—महाराज ! गहिश्चो ।

महाराज ! गृहीतः ।

प्रता०—किं मानः शाहवाजो वा ?

मानसिंहवचसा 'मेवाड परित्यज्य यदि नासौ पलायते' इत्यादिनोप-
क्षिप्तस्य षष्ठाङ्कस्यारम्भः कियते । अधित्यकाया पर्वतस्योपरिभागे ।
'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । मन्त्रो मानप्रभृतीना-
मुद्योगं दर्शयति । मान इति । मानः—मानसिंहः, अपमानात्—अकबरकृ-
ततिरस्काराद् हेतो, अन्ये शाहवाजप्रभृतयः धनलिप्सया 'य प्रताप
निगृह्णीयास मे राज्यलाभस्य दशमाशभाषी स्यात्' इत्यकबरप्रद-
शितधनलोभेन हेतुना, स्वान्तेन चेतसा स्वान्तमपि स्वस्य आत्मनः अन्तं
नाशमपि न स्मरन्तः न भावयन्तः यद्वा—स्वस्य अन्त-पर्यवसानम्
यदनसाम्राज्ये अस्माकं कीदृश्यस्या भविष्यतीति न स्मरन्तः । भाविक-
लमचिन्तयन्त इत्यर्थः । अथवा—स्वान्तेन—चेतसा स्वान्त-चित्तं न स्मरन्तः
अमनस्का एव कार्यं कुर्वन्त इत्यर्थः । अद्रयः पर्वताः, गुहा देवलातस्या-
नानि, अन्धव-जलरहितकूरा, शालिनो-विटपास्तेषु, अधित्यकाया-
पर्वतोपरिभागे, उपत्यकाया-पर्वतस्यासन्नभागे च भयन्तमन्वेपयन्ति-
यवेपयन्ति । एतेन निलयनस्यानवसरः सूचितो भवति ॥ १ ॥

गुहः—एहि एहि, अन्हायां गमणागमणमगो भाणसीहाईहिं
 नहि नहि, अस्माकं गमनागमनमार्गो मानसिहादिभिः
 अहिफिओ । माणप्पहिइसंरक्खिया पलयकालियसमुद्-
 अचिकृतः । मानप्रभृतिसंरक्षिता प्रलयकालिकसमुद्र-
 खिण्णदसम खिण्णोसा चविन्दाभीमगढकोमलमीराइट्टा-
 निनदसमनिघोपा चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्था-
 णेसु विअत्ता दुग्गवणपव्वयकन्दरारुक्खवसुहाहिच्च-
 नेपु व्यःत्ता दुर्गवनपवंतकन्दरावृत्तवसुधाधित्य-
 गुवच्चगासु सव्वओ पसरमाणा अगवरसेणा इओ
 कोपत्यकादिपु सर्वतः प्रसरन्तो अकवरसेना इतो
 णाइदूरे ठिआ ।
 नातिदूरे स्थिता ।

प्रता—किं दैन्यं परिहाय पर्वतगतं शत्रोर्बलं नाशयन्
 नश्येयं किमु वा निलीय कुहरे कालं नयेयं पुनः ।
 किं वा मातृभुवं विमुच्य विपिने तिष्ठेयमात्महृते-
 र्यद्वा मित्रकलत्रपुत्रसहितो गच्छेयमन्यक्षितौ ॥२॥
 गुहुराज ! त्वमपि कथय, किमतः परं कर्तव्यम् ।

मानप्रभृतीति । मानसिहप्रभृतिभिः संरक्षिता । एतेन अनेकेऽत्र
 सेनापतयो बहवश्चात्र सेनाविभागा इति सूच्यते । तथा प्रलयकाले जातो
 यः समुद्रनिनदः समुद्रशब्दस्तेन समो निघोपो हरहरायमाणशब्दो
 यस्याः सा तथा । चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्थानानि स्वस्वनाम्ना
 प्रसिद्धानि तेषु व्याप्ता । अन्यत्सुगमम् । नातिदूरे स्थिता, एतेन शीघ्रमेव
 तदुपायकर्तव्यता सूचिता भवति ।

प्रतापस्तदुपायं परामृपन् कथयति—किं दैन्यमिति । किं दैन्यं-
 पर्वतादिषु पलायनादिकं परिहाय-परित्यज्य पर्यतगतं-पर्यतप्राप्तं शत्रोर्बलं
 दैन्यं नाशयन्-भासयन्, सेनाया वाहुल्यात्तत्रैव नश्येयम् । किमु वा
 कुहरे-महागर्तादिप्रदेशे, निलीय-अन्तर्हितो भूत्वा पुनः कालं नयेयं-
 कालधारनं कुर्याम् । किं वा मातृभुवं विमुच्य-त्यक्त्वा, विपिने-बने,

गुह —अहुणा इह ठिञ्चो गहिञ्चो हविस्सइ । अञ्चो पव्वयञ्चाञ्चो
अधुना इह स्थितो गृहीतो भविष्यति । अत पर्वतत्यागः
कर्त्तव्यो । जीवमाणो पुणो वि महाराञ्चो विजिस्सइ ।
कर्त्तव्य । जीवन् पुनरपि महागजो विजेष्यते ।

मन्त्री—महाराज ! युज्यते चैवम् ।

प्रता०—तर्हि पर्वतावरोहणभागंमादेशय ।

गुह —इदोऽवरोहन्तु महाराञ्चाञ्चो ।

इतोऽवरोहन्तु महाराजा ।

(इति सर्वेऽवरोहन्ति ।)

अमरसिंह --हा मातृभूमे ! नीतिवशात्त्वमधुना मुच्यसे
(इति वदन् रोदिति) हा वसु धरे ! पुनरपि मामनुग्र-
हीष्यसि ।

प्रता०पत्नी—अयि विम्सभरे पुणो वि सुमरिस्ससि । अणु
अयि ! विश्वम्भरे पुनरपि सुस्मरिष्यसि । अनु-
गहेण सिग्घ सकुडुम्भ चैव इम जण समुवट्ठा
अहेण शीघ्र सकुडुम्भमेव इम जन समुपस्थाप-
विस्ससि (इति रुदतो अवरोहति ।)
(यिष्यसि)

प्रता०—(पुन परावृत्त्य)

मातस्त्वदङ्कपरिवर्धितलालितोऽय

मुक्त्वा प्रयाति विषयान्तरमद्य मूढ ।

आत्महुते आत्महुति विधाय तिष्ठेयम् । पञ्चत्रयेऽपि अनिष्टसभावनाया
सिद्धात्तपति । यद्वा-मित्र च कलत्र च पुत्रश्च तै सहितोऽयद्वितौ
सर्वथा अग्रचित्तस्य राक्ष पृथिव्या देशे इत्यर्थः । गच्छेयम् । तत्र
शत्रोरगमनागमनाभान्नादित्यर्थ ॥ २ ॥

अथ प्रताप शुचा कथयति—मात इति । हे मात ! त्वदङ्के-तन्म
प्यभागे अथ प्रतापः परिवर्धित , लालितश्च । मातुस्त्वदङ्के सर्वकालिकी

किं युक्तमत्र किमु वा न च युक्तमेत—

त्रो निर्णये मम मतिः कथमप्युपैति ॥३॥

(इति कथयन् प्रणमति । पुनः किञ्चित्परावृत्त्य सर्वे प्रणमन्ति ।)

सेनापतिः— त्वर्यताम् ! त्वर्यताम् ! दूरेऽस्माकं विश्रामस्थानम् ।
प्रता०— आः प्रचण्डः सहस्रभानुः सन्निहित इवासावुपतिष्ठते ।
सेना०— दारुणो भूमेः संतापः ।

पटोन्नयनम्

(सर्वे चलन्ति । ततः आगच्छति किञ्चिद् दूरे गायन्ती योगिनी ।)

योगिनी— धावत धावत भजत प्रतापम् ।

एनं धर्मकरणतो रक्षत सिन्धुशरणमुपयातम् ।

स्थितिर्न भवति, शैशवकिशोराद्यवस्थायामद्वाद् बाहर्भागे एव लालनपालनादिकं भवति । तव तु अङ्गे एव सदैव परिवर्धितो लालितश्चेति मातुरपेक्षयास्याः स्नेहातिशयः सूच्यते । अद्य मूढः— कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान-शून्यः । अद्येत्यनेन सर्वकाले भक्तिसत्त्वेऽपि अद्य मूढः अयं प्रतापः सुक्त्वा प्रत्यासक्त्या त्वां सुक्त्वा— परित्यज्य विषयान्तरम्— अन्यो विषयो विषयान्तरम् अन्यं देशं प्रयाति । यद्वा— शौर्यादिमरणविषयादन्यं स्वप्राणरक्षारूपं विषयं प्रयाति । किमित्येवं करोषीत्याह । अत्र कर्तव्य-विषये किं युक्तम्, किमु वा न युक्तम्, एतन्निर्याये मम मतिः कथमपि नो उपैति । एकपक्षस्वीकारे आक्षेपशास्त्रविरोधादिना नैव निश्चयो भवति । इदमेव कर्तव्यमिति निश्चेतुं नाहं शक्नोमीति भावः ॥ ३ ॥

गायन्ती योगिनी— इयं सैव गणिका तथाभूततपोवशाद् योगवशाच्च योगिनी संवृता । किं गायतीति दर्शयति— धावतेति । भो लोकाः यूयं धावत । कालातिपातो नैव कर्तव्य इत्यर्थः, सार्यकाले सूर्यस-द्भावे एव सन्ध्यापासनं कर्तव्यमिति शिष्टोऽर्थः । मुख्योऽर्थोऽप्येवमेव व्याख्येयः । यूयं धावत प्रतापं प्रतापसिंहम्, अथ च प्रकृष्टस्तापः संतापो यस्मिन्निति प्रतापः— सूर्यस्तं भजत— सेवत । सैनिकादिषु सहयोगेन सन्ध्यापासनादिना वा । एनं प्रतापसिंहं धर्मकरणतः— दानधर्मात्, रक्षत-

लोकालोकविसर्जितनिजवसुमपरविषयमनुयातम् ।
 रिक्तकरं शिखराधरभागे स्वलितपदाब्जनिपातम् ॥
 पश्यत नीचयानमवगत्य क्रोधारुण्यमिवेतम् ।
 धूलिधूसरितमेनमनंहसमभितो नमत प्रयातम् ॥

सहायता कुरुत । पक्षे प्रेरणालक्षणो धर्मः ; वेदबोधितकार्यकरणेन यथा
 'अहरदः सन्ध्यामुपासीत, स्वर्गकामो यजेत इत्यादिना बोधितस्य कार्यस्य
 करणतः एतं सूर्यं रक्षत । कीदृशमित्याह । सिन्धोः सिन्धुदेशस्य शरणम्
 उपात-प्रातम् । अथ च सिन्धोः समुद्रस्य शरणमुपातम् ।
 पुनस्तमेव विशिनष्टि लोकेति । लोकाः-साधारणपुरुषाः, अलो-
 कास्तदतिरिक्ता विद्वांसस्तेषु विसर्जितं-दत्तं निजमात्मीयं वसु-धनं
 येन तम् । अन्यत्र-लोकालोकेषु-सर्वत्रेत्यर्थः, विसर्जिता निजा वसवो-
 रश्मयो येन सः तम् । 'देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु' इत्यमरः ।
 तथा अपरस्य न परः अपरस्तस्य अपरस्य स्वकीयस्येत्यर्थः । यद्वा-
 अपरस्य-अन्यस्य विषयं देशमनुयातम् अनुगत प्रातमित्यर्थः । 'नीचृज-
 नपदो देशविषयो नूस्वतनम्, इत्यमरः । यद्वा-अपरः-अन्यः युदाति-
 रिक्तः कालयापनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । अन्यत्र अपरः-
 अनुकृष्टः समुद्रनिमज्जनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । यद्वा-अपरः
 अन्यो यो विषयो-देशः अमेरिकादिदेशस्तम् अनुयातम् । पुनः किं विशिष्टं
 मित्याह-रिक्तकरम् । रिक्तः द्रव्यशून्यः करो-हरती यस्य स तथा । अन्यत्र
 करैः रिक्तः इति रिक्तकरः-किरणशून्यः । 'शङ्खदन्तादिषु परम्' इति
 कर इत्यस्य परत्वम् । यद्वा-रिक्ताः-प्रकाशशून्याः, कराः-किरणा यस्य सः
 त तथा । पुनः किं विशिष्टम् । शिखरस्य शृङ्गस्य पर्वतोररिस्थितभागस्य
 अधरभागे-अधःप्रदेशो, स्वलितः-विशृङ्खलितः, पदाब्जनिपातश्चरणस्था-
 पन यस्य तं तथा । अन्यत्र-स्वलितः पदाब्जनिपातो यस्य तं तथा ।

पुनराह-युयं पश्यत । नीचस्य -- यवनाधिरतेः-मेनानायकस्य शाह-
 याजस्य, यद्वा-स्वशातिद्वेषनीचकर्मकर्तृतथा नीचस्य-मानसिंहस्य, यानम्
 धारोक्षणम्, अवगत्य क्रोधारुण्यमिव इतम्, इण् गतो-रक्षवर्णम्, प्रात-

अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हत दुरिताहितकुलजातम् ।
प्रविशति तमो विश्वतः कुरुते सदसद्भावविधातम् ॥

मित्यर्थः । मानसिंहादरोहणज्ञानानन्तरमेव रक्तवर्णं प्राप्तमित्यर्थः । अन्यत्र नीचस्य-तमसः, यान-प्राप्तिम्, अन्यत्समानम् । पुनः किंरिशिष्टम् । धूल्या धूसरितम् ईपत्याण्डुवर्णोपेतम् । उभयत्र समानम् । अन-हसम्-पापरहितम्, तथा प्रयात-गच्छन्तम्, एन-प्रतापम्, सायकाले अस्तोन्मुख सूर्यं च । अभित नमत-प्रणामं कुरुत । उपस्थानादिना सूर्यं चाराधयत । तथा-अञ्जलौ पूरितानि यानि वसुनि-घनानि तैः, अन्यत्र वसुनि-जलानि तैः । अस्य प्रतापस्य सूर्यस्य च दुरितानि इव अहिताः-शनवस्तेषां कुलजात-कुलसमूहम्, यद्वा-कुले जात-शत्रुकुलोत्पन्न जातित्वादेकवचनम् । सर्वानपि शत्रुकुलोत्पन्नान् हत-नाशयत । अन्यत्र सूर्याञ्जलिभिः अत्यन्तदुरितयुक्तत्वाद्भेदोपचाराद् दुरिता-पापिनो चे अहिता-शनवस्तेषां कुलजात, हत-नाशयत । बहुतरद्रव्यदानेन साहाय्यकरणात्प्रतापस्य शत्रुकुलं नाशयत । अन्यत्र-सूर्यविपक्षिणो राजसन्नाशयत । सूर्याञ्जलिभिः सूर्यविपक्षिणो राजसन्नाशयते इति पौराणिकी कथाऽनुसंधेया । पुनराह-तम-तम प्रकृतिकः धमविरोधित्वाद्दण्डकार-स्वरूपं अकबरं तमश्च विश्वतः-सर्वतः प्रविशति, तथा सदसद्भावयोर्धर्मो धर्मयोर्विधातं नाशं कुरुते । वस्तुन अस्तित्वनास्तित्वयोर्ज्ञानस्यैव नाशं कुरुते इत्यर्थः । नहि गाढे तमसि किञ्चिदपि वस्तु अस्ति वा नास्ति वेति ज्ञायते । स्व स्वकीयं लोभसहितं मानं, लोभमपि मानमपीत्यर्थः अथवा जातिरप्राणिनामित्येकवद्भावः लोभं च मानं चेति द्वन्द्वः । अपसारयत-दूरीकुरुत । लोभं त्यक्त्वा द्रव्यसाहाय्येन सेनासनाहं कारयत, मानं विहाय अस्यानुगामित्वेन युद्धे सहयोगं कुरुतेति भावः । अन्यत्र-लोभम् अस्मिन्समये एतत्कार्यं कृत्वा घनमुपाजयिष्यामः अलं सन्धोपासनवेति लाभ-बुद्धिं परित्यज्य, अथ च मानम् कथं कथं रात्रानो विशिष्टघनिनो वा क्षुद्रब्राह्मणवत् सन्धोपासनं करिष्याम इत्यभिमानबुद्धिं विहाय । प्रताप-प्रतापसिद्धं प्रद्योतयत-राज्यप्राप्तयेन सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानं कुरुत, अन्यत्र-

लोभमानमपसारयत स्वं प्रद्योतयत प्रतापम् ।

नश्यति तत्र उदयते प्रतापः प्रणमत पुनरायातम् ॥ ५ ॥

(इति गायन्ती योगिनी हठादिव सर्वानपि प्रतापानुगामिनो विदधाति ।)

(ततः प्रविशति तद्गानेन प्रतापानुरक्तो विह्वलो भामागुप्तः ।)

भामागुप्तः—आ. ! क्व गतोऽसौ मे प्राणाधारः प्रतापः ?

क्वासौ मे प्रतिपालकः क्षितिपतिर्भूपालचूडामणि-

मां त्यक्त्वैव हहा प्रयाति विषये सिन्धो प्रताप कथम् ।

किं स्यान्मे वसुभि सुतेन किमु वा प्राणैश्च किं वा फलं

प्राणेशं यदि तं ब्रजन्तमभितो नावर्तने स्यां क्षमः ॥ ६ ॥

प्रताप सूर्यं प्रद्योतयत—तमो विनाश्य उदित कुरुत । पुनराह । तमः—
तम स्वरूप यवनशासन नश्यति—क्षीयते, प्रतापः उदयते, अस्य प्रारब्धस्य
अनुपदमेव उदयो भविष्यतीति वर्तमानसामीप्यात् । अन्यत्र—तमः—
अन्वकारो, नश्यति—क्रमशः क्षीयते, प्रतापः सूर्यं उदयते । पुनः आयातं
प्रताप सूर्यं च प्रणमत-नमस्कुरुत इति ॥५॥

अथ योगिन्या वचनं श्रुत्वा विह्वलो भामागुप्तः कथयति—क्वासा-
विति । मे—मम प्रतिपालक—संरक्षकः, भूगालाना—राज्ञा चूडामणि-शिरो-
रत्नसदृशः, असौ क्षितिपति-पृथ्वीपति प्रपारः कः । कुनास्तीत्यर्थः ।
हहा इत्यत्यन्तखेदे । प्रतापः मां त्यक्त्वैव सिन्धो विषये—सिन्धुदेशे कथं
प्रयाति । कथमेव गच्छतीत्यर्थः । मे मम वसुभिः—रहुतरघनैः, किं स्यात्-
किं भवेत् । न किञ्चिद्धनेन प्रयोजनं सेत्स्यतात्यर्थः । वा—अथवा, सुतेन-
पुत्रेण किमु । तेनापि न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः । वा—अथवा, प्राणैश्च
किं फलम्, तद्गमने सति प्राणा अरि निष्फला एव । 'तदेतद्विज्ञात्प्रेयः
पुनात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्प्रेया यदयमन्तरात्मा' इत्यात्मनोऽपि निष्फ-
लत्वे हेतुं दर्शयति—यदि ब्रजन्त-गच्छन्त प्राणेशप्राणनाथ त प्रतापम्,
अमितः आवर्तने क्षम-समर्थः न स्याम्, तर्हि मे जीवनेनापि न फल-
मित्यर्थः । एतेन प्रतापस्य प्राणेशोऽप्यधिकप्रियत्वं व्यज्यते ॥६॥

(योगिन्याः संमुखमुपेत्य) अयि योगिनि ! योगबन्धुषा प्रतापं पश्यन्ती त्वमेव कथय, कुत्रासौ मे प्रतापः ?

योगिनी—पश्य । सोऽयं प्रतापोऽनेनैव मार्गोणोपगच्छति
(इति दूराद् दर्शयित्वा) 'अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हत'
(इत्यादि गायन्ती निःसृता ।)

भामा०—(राजपत्नी पश्वन्)

आः ! सेयं मम मातृतुल्या पूज्या महाराज्ञी ।
पश्योर्ध्वं पदमुन्नमय्य सहसा यान्ती कचिच्छार्करे
दीप्ताङ्गारमिवाङ्गुलीषु पतितं प्रावाणुकं सुस्थिरम् ।
भूमेस्तापवशेन चञ्चलतरा निष्काशितुं चाक्षमा
स्थातुं न ब्रजितुं न च प्रभवति स्वामिन्यसौ विह्वला ॥७॥
अयं प्रतापः

रोषारुणविशालाक्षस्तान्तस्वान्तः प्रसन्नधीः ।

विचारयन्निव हृदा मन्दं मन्दं ब्रजत्यसौ ॥ ८ ॥

अथ भामागुप्तः प्रतापपत्न्या गतौ धर्मदुःखं दर्शयति—पश्येति ।
पश्य, कचिच्छार्करे—वालुकामयप्रदेशे पदम् ऊर्ध्वम् अत्यन्तम् उन्नमय्य
स्वकीयं चरणमत्यन्तमुन्नतं कृत्वा सहसा यान्ती-गच्छन्ती, असौ
स्वामिनी दीप्ताङ्गारमिव प्रञ्चलदग्नेः अङ्गारमिव अङ्गुलीषु-अङ्गु-
लिमध्ये पतितं सुस्थिरं दृढतया तत्रैवावस्थितं प्रावाणुकं-पापाणकणिकां
भूमेस्तापवशेन अत्यन्तभूमिसंतापत् चञ्चलतरा अत एव निष्काशितुम्
अक्षमा, तग्निष्काशनं स्थित्वैव संभवति, चञ्चलतरत्वे स्थितेरभावात् ।
एवं च विह्वला-अतिदुःखवशाद्दुःखिणा असौ स्वामिनी न स्थातुं न च
ब्रजितुं प्रभवति । नैव समर्था भवतीति भावः ॥७॥

अथ भामागुप्तः प्रतापभवलोक्व दर्शयति रोषारुणेति । रोषेण
अरुणे-रक्तवर्णे, विशाले-दांघे, अक्षिणो यस्य स तथा । तान्तं-खेदयुक्तं
स्वान्तं-मनो यस्य सः तथा । प्रसन्ना धीः-कर्तव्यज्ञानविषयिणी बुद्धि-
र्यस्य स तथा । मनसः रोदयुक्तत्वेऽपि कर्तव्यविषये उत्साहसङ्गावात्स्य

भामा०—(सहस्रोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः(इति पादयोः पतति ।)
(सर्वे एकतो भूमा उपविशन्ति ।)

प्रता०—अहो कोशाध्यक्षो भामागुप्तः ! कथय, अपि क्षेमं ते
सपरिवारस्य ।

भामा०—(पादौ गृहीत्वा) भवता परित्यक्तस्य कुतो मे क्षेमं
स्यात् । (इति रोदिति)

(प्रतापः किञ्चिद्विचारयन्निव मौनमास्थितः ।)

चन्दा०—कोशाधिपते ! इदानीं कमलासंकोचवशादप्रतिपालित-
चतुरङ्गसैन्यचक्राः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं सिन्धु-
प्रान्ते जिगमिपवो महाराणाः प्रतापाः तदनुगामिनो
वयं च ।

भामा०....महाराज ! युष्मदीयकोशे चतुष्कोटिपरिमितं धन-
मस्ति ।

शौर्यशालित्वं द्योत्यते । असौ प्रतापः हृदा-मनसा विचारयन्निव मन्दं
मन्दं व्रजति । प्रायशो विचारदशायामेवमेव पुरुषश्चलतीति भावः ॥८॥

कमलेति । इदानीमस्मिन् काले आपत्तिदशया कमलाया-लक्ष्म्याः
संकोचवशात्, अप्रतिपालितो द्रव्यादिदानेन न स्वायत्तीकृतश्चतुरङ्गसैन्य-
चक्रश्चतुरङ्गसैन्यसमूहो यैस्ते एवविधा महाराणाः प्रतापाः । अथ चेदानीं
वसन्तऋतौ कमलानामसंकोचवशात् सिन्धुप्रान्ते तत्र कमलाना बाहुल्ये-
नोपलब्धेः स्वातन्त्र्येण तत्र कालयापनार्थम्, अथ च स्वतन्त्रताया
अधिष्ठायकदेवपूजार्थं जिगमिपवः-गन्तुमिच्छुः । 'सनाशंसमिच्छ उ.'
इति उपस्ययः ।

अथ भामागुप्तः स्वकोशद्रव्यपरिमाणं कार्यद्वारा प्रदर्शयति—
प्रोद्यदिति । प्रोद्यन्ती-देदीप्यमाना कान्तिर्येषा तानि तयामूताति यानि
प्रहरणानि तैर्लसन्तः-शोभमाना गाढा-पुष्टाः उन्नताप्राः-उत्तुङ्गाः
स्फूर्जन्तः आस्फालने वज्रनिर्घोषमिव कुर्वन्तो ये भुजास्तेषा परितृढाः

तेन

प्रोद्यत्कान्तिप्रहरणलसद्गाढपुष्टोन्नताप्रो-

सुङ्गस्फूर्जद्भुजपरिवृढा धैर्यशौर्योद्धुरीणा ।

नव्योन्मीलद्बहुलबलिनः सिद्धलक्षाः सहस्रं

पञ्चाशत्स्युस्तव भटगणास्त्रिशदब्दान् ध्वजिन्याम् ॥६॥

प्रता०—नाहं परकीयघनेन सैन्यं साधयिष्ये ।

भामा०—महाराज ! नैतत्परकीयम्, किन्तु युष्मत्कृपापात्रैरस्म-
दोयपूर्वजै राज्यकरसंचितं युष्मदनुचरैर्विलुप्ट्यानीत-
मिति च सर्वमपि कोशागारे निहितमिति युष्माकमेव ।

सेना०—युज्यते चैवम् ।

चन्दा०मन्त्री—एतद्योष्माकीणमेव । एतेन पञ्चाशत्सहस्रैर्वीरैर्ययं
युगपदाक्रम्य सर्वमपि रिपुबलं नाशयिष्यामः ।
स्वल्पेनैव कालेन सर्वाण्यपि दुर्गाणि परावर्त-
यिष्यामश्च ।

प्रता०—एतद्वंशपरंपरोपार्जितमित्यस्यैव सर्वम् ।

स्वामिनः तथाभूतभुजयुक्ता इत्यर्थः । तथा धैर्यशौर्ययोः उत् ऊर्ध्वं यथा
स्यात्तथा धुरा बहन्तीति धैर्यशौर्योद्धुरीणाः, नव्या नवीनयुवावस्थोपेताः,
यद्वा-नव्य-नवीनं यद् उन्मीलद् बहुलबल तदस्ति येषां ते । यद्वा नव्याः
उन्मीलन्तः उत्साहयुक्ता बहुलबलिन अनेकसहस्रयोधिनः । तथा सिद्ध-
लक्षाः, सिद्ध लक्ष येषां ते । अत्रतिहतवाणशक्तय इत्यर्थः । एवभूता-
पञ्चाशत्सहस्र भटगणाः त्रिशदब्दान्-त्रिशदब्दपर्यन्त 'कालाध्वनार-
स्यन्तसयोगे' इति द्वितीया । तत्र ध्वजिन्या-सेनाया स्युः । पूर्वं दशसहस्रै-
रेव भटैर्युतो भवान् विजितप्राय आसीत्, इदानीं तु पञ्चाशत्सहस्रैर्भ-
टैर्युतो भवानवश्यं विजेष्यते इति भावः ॥ ६ ॥

युज्यते इति । सेनापतिभिर्विलुप्ट्यानीतमित्यवगत्य युज्यते इत्यनेन
राज्ञः प्रतापस्यैवेदमिति समर्थयति ।

अथ भामा इतिकर्तव्यता बोधयति—यवनैति । यवनस्य-यवनराज्य-
स्य भवद्गमनानन्तरम् अधिगतौ-सर्वत्रैव प्राप्तौ सत्या विनाशे ध्रुवे-

भामा०—अस्माकं भवेदेतद्, युष्माकं वेति विवादः परिहोय-
ताम् । एतत्स्वातन्त्र्यदेवपूजार्थं भवत्पादे निधीयते ।
यदि भवानेतन्न स्वीकरोति तदाऽहमनशनेन प्राणां-
स्त्यद्यामि ।

यवनाधिगतौ ध्रुवे विनाशे

सुखपूर्वेण कथं न तं विदध्याम् ।

यदि वः करुणालवोऽपि शिष्टो

रिपुमास्कन्ध तदा प्रजा भजध्वम् ॥१०॥

मन्त्री—महाराज ! भवदर्थमेतन्माऽस्तु । परं विधर्मिभ्यः प्रजानां
धर्मरक्षार्थमेतद्दीयते । अयमपि भवदीय एव । अन्यथाऽयं
प्राणांस्त्यदयतीति स्वीक्रियताम् ।

प्रता०—(भामागुप्तस्य बाहुं गृह्यत्वा) कोशाधिपते ! स्वातन्त्र्य-
देवताराधनार्थमेतत्स्वीकरोमि । एतेन मेवाडे चिरस्थायिर्नी-
स्वतन्त्रतां स्थापयिष्यामि ।

भामन्—उप्ता या बलिना लता हरिपदे सस्ये युगे स्वाध्वरे
सिक्ता सा शिविना दयासलिलतच्छेतायुगस्यान्तरे ।

निश्चिते सति । न खलु तद्राज्ये विधर्मिसंसर्गेण वयं जीविष्यामः इति
निश्चये सति सुखपूर्वम् तमात्मनो विनाशं कथं न विदध्याम् । अवश्य-
मेव सुखपूर्वैरेव अनशनादिना आत्मत्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यदि वः—
युष्माकं करुणाया लवोऽपि अणुमात्रसम्बन्धोऽपि शिष्टः अस्ति । यदि
मादृशस्य जनस्य रक्षणे तव हृदये दयाऽस्ति तदा रिपुमास्कन्ध
युद्धोद्योगेनेति भावः, प्रजाः भजध्वं—सेवध्वम्, प्रजारक्षणं तत्सेवैवेति
भावः ॥ १० ॥

अयमीपति । अयमेतद्गुलक्षणो जनः ।

अथ प्रतापो लतारूपकद्वारेण तद्दानं दर्शयति—उप्तेति । या दान-
स्वरूपा लता बलिना हरिपदे-विष्योश्चरणे स्वदेहस्यापि दानेन त्रिपदीमात्र-

कर्णः पल्लवितां विधातुमभवच्छक्तश्च तां द्वारे
सैयं साध्वमृतैः कलौ फलवती भाम्ना त्वया साध्यते ॥११॥

मन्त्री—भामन् ! लोकोत्तरमिदं ते दानकर्म ।

यतः—लोके ख्यातिधिया ददाति कुशलः कश्चित्स्वकान्भावय-
न्तन्यः स्वर्गसुखाय वेदविदुषे दत्ते स्वलाभेच्छया ।

राज्ञो रोपभिया परोऽपि ददते स्वोपायनं बोधयन्
द्वित्राः सन्ति नवा क्वचित्तव समा यच्छन्ति ये निःस्पृहाः ॥१२॥

पृथिव्या दानेन स्वाध्वरे-स्वकीययज्ञे सत्ये युगे उक्ता—धीजरूपेण आरोपिता,
सा शिविना—तन्नामकेन राज्ञा त्रेतायुगस्य अन्तरे—त्रेतायुगमध्ये दया-
सलिलतः—दयारूपसलिलेन सिक्ता, कर्णो द्वारे तां लतां पल्लवितां—
पल्लवयुक्तां च विधातुं शक्तः समर्थः अभवत्, सा इयं प्रत्यक्षतया विद्य-
माना दानरूपा लता अमृतैः अयाचितैः 'अमृतं स्यादयाचितम्' इति
मनुः । 'द्वे याचितायाचितयोर्धर्मासंख्यं मृतामृतै' इत्यमश्व । साधु सम्भक्
प्रकारेण कलौ भाम्ना त्वया फलवती—फलयुक्ता साध्यते । अधुना दान-
लता फलवती जाता । बलिना सार्द्धं त्रिपक्षीमात्रपृथिव्या दाने सर्वं स्व दत्तं,
परं तु सर्वस्वदाने पूर्वत एव नाध्यवसायः आसात् । एवं शिविनाऽपि
स्वरूपेणैव कार्यं सेत्स्यतीति ज्ञात्वा स्वरूपं स्वमांसं ददता बहुतरं
स्वमांसं दत्तम् । कर्णोऽपि कवचकुण्डलादिदानेन स्वर्गसुखाध्यवसाययुक्त
आसीत् । एवं तु अयाचितं सर्वं स्वमेव ददातीति निलक्षणं सर्वोत्तमं ते
दानमिति भावः, अत एव त्वया दानलता फलवती कृतेत्यर्थः ॥११॥

अथ मन्त्री भामानं कथयति—लोके इति । कश्चित्कुशलः लोके—
संसारे, ख्यातिधिया—स्वप्रसिद्धिबुद्ध्या, स्वकान्स्वकान् भावयन् अयम-
स्मदीय इति चिन्तयन्नेव ददाति । अन्यः स्वर्गसुखाय एतदानेन स्वर्गसुखं
भविष्यतीति स्वलाभेच्छया—आत्मलाभकाङ्क्षया वेदविदुषे विधाय दत्ते ।
दानफलस्यात्मगामित्वादात्मनपदम् । परोऽपि तदतिरिक्ताऽन्योऽपि राज्ञो
रोपभिया स्वोपायनं बोधयन् इदमुपायनं दायते इति कथयमानः राज्ञे वददा
तदपि राज्ञो रोपभयादेव ददाति नतु स्पृहाशून्यत्वेनेत्यर्थः । तव समाः—तत

भामा०—इयं महतो भयनामनुकम्पा, यदेतेन सर्वानप्यस्मान्
विधर्मियस्त्रायन्ते भवन्तः ।

प्रता०—सेनापते ! त्वं तावत्पञ्चाशत्सहस्राणि वीरभटान्सञ्जी-
कृत्य पञ्चधा विभज्य आक्रमस्व । अमरसिंह ! त्वमपि
गुहसहितो स्लेच्छसैन्यं विनाशय । अहमपि तिर्यग्मार्गे-
णाक्रम्य मानं निग्रहीष्यामि ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयन्ति भवन्तः (इति तथा कर्तुं निष्कामति ।
अमरसिंहोऽपि उपमन्त्रिसहितो निर्गच्छति । प्रतापोऽपि मन्त्रि-
रक्षाया कलत्रादिकं परित्यज्य निष्काम्यति)

(पटोन्नयनम्)

(आगरायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितोऽरुचरश्चिन्तयति ।)

अक०—मन्त्रिन् ! श्रूयते अद्यश्वः प्राणपणेन मानः प्रतापं निग्र-
हीतुमभिलषति ।

मन्त्री—संभाव्यते अपमानभिया मानस्तथाऽऽचरितुं सन्नद्धः
स्यात्, परं तु प्रतापोऽपि प्रताप एव ।

क्वासो प्रताप. क्व च वः प्रतापः

क्व मिल्लरक्ष्यः क्व बलं भटानाम् ।

क्व तस्य यत्नः क्व चमप्रयत्न—

स्तथापि निघ्नत्वमेयं न याति ॥ १३ ॥

सदृशाः 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्या तृतीयान्यतरस्याम्' इति षष्ठी । द्वित्राः-द्वौ
वा त्रयो वा इति द्वित्राः सन्ति नवा । द्वित्रेष्वेव सदेहः, अधिकाना तु
कथैव का ? ये निःस्पृहाः—सर्वथा आकाङ्क्षारहिता यच्छ्रुन्ति-ददति ।
नैकोऽपि त्वत्सदृशो निःस्पृहो दातेति भावः ॥ १२ ॥

मन्त्री प्रतापस्य साधारण्येपि लोकातिशायित्वं दर्शयति—क्वासा-
विति । असौ साधारण्योऽस्मदादिग्राह्यः प्रताप. क्व, वः युष्माकं प्रतापः
ऐश्वर्यं क्व । पूयंन अस्माकित्येकत्वेन तस्य तुच्छत्वम्, वः इत्यन बहुत्वेन
युष्मदैश्वर्यस्य लोकातिशायित्वेन च तुल्यतायामन्तरातिशयो बोध्यते ।
मिल्लेन मिल्लैर्वा मिल्लजातीयैर्वा रणकलाशून्यैरशिक्षितै रक्ष्यः क्व ।

श्रूयते मेवाडं परित्यज्यासौ सिन्धौ प्रयात ।

मन्त्री—यद्येवं भवेत्तदा दूरोत्सारितस्तव कण्टकः स्यात्पर विजिगीषुणा बहुविधा प्रकारा भवन्ति । न जाने किमप्यस्य प्रयागे रहस्य स्यात् ।

(तत प्रविशति मानसिंह ।)

मान०—विजयतां विजयतां महाराज ।

अक०—क्व गतोऽसौ प्रताप ?

मान—मेवाड परित्यज्ज सिन्धौ प्रयात इति श्रूयते ।

अक०—दूरोत्सारित कण्टको विनाशित एव । यतः स्वयमसौ प्रचण्डतरमार्तण्डप्रखरकरोत्तापितस्य सलिलानुपलब्धि-विशुष्कतालुरसनाकण्ठोष्ठमुखविवरस्य पुत्रकलत्रादिसकलकुटुम्बस्य नाशे विनष्टो भविष्यति ।

मन्त्री—सर्वमपि युज्यते । परमसौ विजिगीषोरिव कदाचित्प्रकार स्यादित्यपि सभान्यते एव ।

एकाकी स्वयल विहाय सहसैवाक्रम्य शत्रोश्चम्

मुक्त्वा तां च पलायितो यदि भवेद् हृद्य ततो मीयते ।

एतेन मुगमतया तस्य ग्राह्यत्व सूच्यते । व युष्माक भटाना-योधाना बल-सैन्य सामर्थ्यं वा क्व । एतदपि सामानाधिकरण्य नैव षट्ते । अथ च तस्य एकाकिन प्रतापस्य यत्न क्व । व युष्माक चम्बा सेनाया प्रयत्न क्व । तत्र तु एकरथैव यत्नः इह तु सेनाया इत्यनेनासरयातसैनिकाना प्रयत्न , तत्र तु यत्न एव । इह तु प्रयत्न , प्रकृष्टो यत्न इति सर्वथा तद्ग्रहणे सुकरत्वं बोध्यते । व इत्यनेन सह चम्बा नित्यसाकाङ्क्षत्वात् देवदत्तस्य गुरुकुलमिति वत्समास । तथापि सर्वथा तद्ग्रहणस्य सुकरत्वेऽपि अथ प्रताप निष्पत्तव व युष्माकमधीनता न याति । नाद्यापि त्वदधीनतामय प्राप्नोतीति भावः ॥ १३ ॥

मन्त्री प्रतापस्य सिन्धौ गमने किञ्चिद्ग्रहस्यमेवेति दर्शयति-एकाकी-ति । कश्चिद्वीर स्वयल-स्वसैन्य विहाय ततो निष्क्रम्य सहसैव शत्रोश्चम्

वीरः कातरवत्त्यजन्निजमुवं काञ्चिक्रियामीहते

दुर्जेयं विदुषो नटस्य कृतिवत्कृत्यं जिगीषोरिदम् ॥१४॥

मानः—एवमपि संभाव्यते, परं तु प्रतापस्तु पलायित एव ।

मन्त्री—अहमभिलषामि, सत्याः सन्तु ते गिरः ।

(ततः प्रविशति सेनातः समायातश्वरः ।)

चरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कुत्र प्रतापः पलायित इति कश्चिदुदन्तः समागतः ?

चरः—किण्णु खलु तस्स उदन्तस्स क्हा, सव्वं चेव णट्टं ।

किन्तु खलु तस्योदन्तस्य कथा, सर्वमेव नष्टम् ।

अक०—किं प्रतापकुटुम्बम् ?

चरः—एहि एहि तुम्हाणं बलम् ।

नहि नहि युष्माकं बलम् ।

अक०—किमसौ कथयति ?

चरः—सव्वं सच्चं चेव क्हेमि ।

सर्वं सत्यमेव कथयामि ।

अक०—केनास्मद्वलं विनाशितम् ?

चरः—ससेण्णेन पदाचेण विस्सञ्चो क्कमियं पुणो ।

ससैन्येन प्रतापेन विश्वत आकमितं पुनः ।

तुह चेव बलं सव्वं णासिञ्चं खणमत्तञ्चो ॥ १५ ॥

तव चैव बलं सर्वं नाशितं क्षणमाप्रतः ॥ १५ ॥

माक्रम्य ताम् आस्कन्द्य पुनस्तं शत्रुसैन्यं च मुक्त्वा परित्यज्य यदि पलायितो भवेत् एवं दशा यदि भवेत् ततस्तदनन्तरं तदा वा ह्यमनुमीयते । अस्त्यत्र किमपि रहस्यम्, यस्मादेवमसौ विदधातीत्यनुमीयते ।

वीरः—प्रतापः, कातरवत् निजमुषम्—आत्मपृथ्वीं त्यजन् काञ्चित् क्रियामीहते । विजिगीषोरिदं कृत्यं विदुषो नटस्य ऐन्द्रजालिकस्येत्यर्थः कृतिवत् दुर्ज्ञेयम् । दुःखेन प्रयत्नेन शत्रुं शक्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

अक०—(मानाभिमुखं पश्यन्) किमसौ ब्रवीति ? अये किमिदं सत्यं ब्रवीषि ?

चरः—सर्वं सच्चं चेव । कहां खु अम्हारिसो मिच्छा कहिस्सइ । सर्वं सत्यमेव । कथं खलु अस्मादशो मिथ्या कथयिष्यति ।
(ततः प्रविशति वैरामसेनापतिप्रेषितध्वारः ।)

से० चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः। हा सर्वेऽपि हताः।
अकबर—कथम् ?

से० चारः—सहसा प्रतापसैनिकैराक्रम्य सर्वेऽपि ते सैन्यभटा विनाशिताः, न जाने कुतस्तदसंख्यातं सैन्यमाया-
तम् । (पुना रुदन् पादयोर्निपत्य) महाराज ! युष्म-
त्सेनापतेः पत्नी युष्माकं धर्मभगिनी सखीभिः
सहितैव प्रतापभटैर्निगृहीता ।

अक०—कथमिदमश्रान्यं शृणोमि ?

(स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽहमेतेन निपातितः पदे ॥ १६ ॥
(प्रकाशम्) कथं सा निगृह्यता ?

से० चारः—प्रतापभटैः सहसाऽऽक्रम्य सकले युष्मत्सैन्ये
विनाशिते आरक्षकरक्षिता सखीभिः समभागच्छन्ती
सेनापतेः पत्नी मार्गे एकाकिना गुहेनाक्रम्य अन्त-
रैव निगृह्यता, आरक्षकाश्च विनाशिताः ।

अकबरः स्वहृदये विचारयति—स्वसा इति । मदीयैव नतु सम्बन्धि-
नोऽन्यस्य वा स्वसा—भगिनी रिपोः प्रतापस्य करे हस्ते गता । यद्वा-
मदीया स्वसैवेति सम्बन्धः । तथा च मे—मम मूर्तिमती साक्षान्मम
स्वस्वरूपेण देहधारिणी यशस्वितैव गता । तस्याः पुनः आप्तिकारणं
पुनरागमनहेतुर्न चास्ति नैवास्तीत्यर्थः । एतेन कारणेन जितः अहं
पदे निपातितः, जितोऽप्यहं पदे निपातनात्सर्वथा पराजित एवेत्यर्थः ।
यद्वा—अहमेतेन जितः, पदे निपातितश्च ॥ १६ ॥

अक०—(गुहं लक्ष्मीकृत्य आकारे) साधु भिल्लराज ! साधु ।

कश्चिद्वेतेनलाभतो रणभुवं वीरः समागच्छति

क्षेमं चाभिलपन् स्वकीयमभितो भूपात्परो वाञ्छति ।

अन्यः पूर्वसुखोपमुक्तविषयो भोगाशयैवैहते

कोऽन्यस्त्वरसदृशः प्रभोः परमया भक्त्यैव यः सेवते ॥१७॥

(मनुषि)

यद्वा सर्वमपीदमस्मद्दुर्विलसितस्य फलमुदयते ।

चिकीर्षते यद्दु रितेन पूरुपस्तदेव तत्पापफलेन सृज्यते ।

परस्य वाञ्छन्नशुभं प्रहिं खनन् पतत्यसौ तत्र विधेर्विलासतः ॥१८॥

अथ अकवरो गुहं भिल्लराजं लक्ष्मीकृत्य कथयति—कश्चिदिति ।
कश्चिद्वीरः वेतेनलाभतो—मासिकवृत्तिलामात्, रणभुवं—संग्रामभूमिं,
समागच्छति—योद्धुं प्राप्नोतीत्यर्थः । परः—कश्चिदपरश्च, अभितः—सर्वतो-
भावेन, स्वकीयं क्षेमम्—आत्मकल्याणं, भूपात्—राज्ञः सकाशाद्, अभि-
लपन्—इच्छन्सन् रणभुवं वाञ्छति—तत्र योद्धुं गच्छतीत्यर्थः । पूर्व प्रथमं
सुखेन उपमुक्तो विषयः सर्वविधोऽभिलाषो येन स तथाविधः अन्यः
कश्चिद्वीरो भोगाशयैव भोगतृष्णयैव रणभुवम् ईहते—तत्र संग्रामभूमौ
गन्तुं चेष्टते । त्वरसदृशो—ऽन्यः कोऽस्ति यः प्रभोः स्वस्वामिनो राज्ञः
परमया—उत्कृष्टया केवलया वा भक्त्यैव रणभुवं सेवते । वेतेनलाभादि-
निरपेक्षः सन् यत्स्व संग्रामभूमिं सेवते एषा ते अलौकिकी स्वामिभ-
क्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ स्वकीयं कर्म विचारयन् कथयति—चिकीर्षते इति । पूरुपः
यत्कर्म दुरितेन—गपकर्मणा हेतुना, चिकीर्षते—अन्यस्मै कर्तुमिच्छति,
तदेव कर्म तत्पापफलेन—तस्य कर्मणः पापफलोदयेन सृज्यते—स्वत एव
उत्पद्यते इत्यर्थः । सृजिरकर्मको दैवादिकश्च । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयते-
परस्य—अन्यस्य अशुभमनिष्टं वाञ्छन्—अभिलपन् प्रहिं—कूपं खनन् ।
अमुकः पूरुपः अत्र कूपे पततु इत्यभिलाषेर्ण कूपं खनन् असौ कूलनकः
पूरुपो विधेर्ब्रह्मणः प्रारब्धस्य वा विलासतः तत्र कूपे पतति । मया
तत्कलत्रग्रहयोर्न तज्जयाय प्रयत्नो विहित इति ममैव सेनागतेः कलत्रं
गृहीतमित्यहं पराजितश्चेति भावः ॥ १८ ॥

(पुनः स्मृत्वा) आः ! दाहणोऽपमानसंतापः ।

नो शान्तिः कथमप्युपैति मनसो दुःखं समुज्जृम्भते

चित्तं चोद्विजते त्रपाभरवशादात्मा क्षिती लीयते ।

अस्मत्सैन्यपतेर्वधूः सतनया वन्यैर्यतो गृह्यते

तस्मादेव मया स्वकीयविजये वाञ्छा परित्यज्यते ॥१६॥

(पुनर्विमृश्य) अलं कातर्येण, तासामुद्धारः कर्तव्यः ।

(पुनः) किमसौ मानस्तेनेदानो मिलितः यन्मां प्रतारयन्

योग्यान्मे भटान्नाशयति, किं वा तद्गतिमवगत्य

स्वयमेव पलायितः ।

(प्रकाशम्) मानसिंह ! किमिदं जातम् ?

मानः—अस्मदागमत्तानन्तरं वार्षिकमण्डूकवन्न जाने कुतस्त-

त्सैन्यं संजातम् ।

आः इत्यत्यन्तदुःखपरामर्शे । अपमानसंतापः दाहणः, अत्यन्त-
दुःखजनकः । तदेव दर्शयति—नोः शान्तिरिति । कथमपि आमोद-

प्रमोदादिना केनापि उपायेनापि मनसश्चित्तस्य शान्तिर्नो नैव उपैति
चित्तस्य शान्तिर्न प्राप्नोतीत्यर्थः । दुःखं समुज्जृम्भते—उद्वेगं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तथा त्रपाभरवशात्—लज्जाया आधिबयात्, आत्मा क्षिती—पृथिव्या नाशे
वा लीयते—कथकहं मृतः स्यामिति विचारेण पृथिव्या लीनो भवती-

त्यर्थः । तत्र हेतुं दर्शयति—यतो यस्मात्कारणात् अस्मत्सैन्यपतेः
चौरामनामकस्य मम सेनापतेः वधूः सतनया—तनयया सहितेति सतनया

कन्यायुक्ता वन्यैर्वनचरैः प्रतापसैनिकैर्गृह्यते, तस्मादेव कारणात् मया
स्वकीयविजये वाञ्छा परित्यज्यते—अहं विजेष्ये इत्यमिलापः सर्वथा

परित्यज्यते । यः स्वपक्षिणः कलत्रमपि रक्षितुं न शक्नोति स कथं
शत्रुं जेष्यतीति भावः ॥ १६ ॥

नोट १—‘लघयधमा इः’ इति मकारस्य हकारे, ‘कगचजतदपयवां प्रायो
लोपः’ इति पकारलोते ‘शेषं संस्कृताद्’ इत्युक्तेः, ‘आद् गुणः’ इति गुणे

‘लाहोर’ इति सिद्धम् । यत् ‘लवपुराल्लाहोर इति निष्पद्यते’ इति कैश्चि-
द्बुद्ध्यते तत्तेषां प्राकृतव्याकरणानभिष्टताया विज्ञम्भणमेव ।

(ततः प्रविशति लाभपुरादायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ?

चारः—महाराज ! लाभपुरसामन्तो युष्माकं परिपन्थी संजातः,
स चाक्रामन्नित एवाभिगच्छति ।

अक०—अपमानो मया पूर्वमश्रावि हृपदात्मना ।

इदानीं भ्रूयते राज्यच्छेदोऽपि किमतः परम् ॥२८॥

कथय अन्यदपि यदनिष्टं स्यात्, हृदयमवलम्ब्य सर्व-
मपीदानीं श्रोतुं सन्नद्धोऽस्मि ।

(पुनर्विमृश्य)

सेनापतेराप्तकुटुम्बवर्गं पूर्वं रिपोः किन्तु समुद्धरेयम् ।

किं वा द्विषन्तं कलयेऽभियान्तं सामन्तमेनं खलु दण्डयेयम् ॥२०॥

परं नेदानीं कालातिपातः कर्तव्यः । उभयमपि संपादनीयमेव ।

अथ अकवरो राज्यस्य मध्ये एव समुत्पन्नं विद्रोहाग्निमाकर्ण्य कथ-
यति—अपमान इति । पूर्वं-प्रथमं हृपदात्मना मया पापणवदात्मानं
-विधाय अपमानः अश्रावि-भ्रुतः । इदानीम् अधुना राज्यच्छेदोऽपि
भ्रूयते । लाभपुराधिपतिः स्वतन्त्रो जात इति तावन्मात्रं विच्छिद्यत इति
भावः । अतः परं किम्-अतः परमधिकमनिष्टं किम् ! न किम-
पीत्यर्थः ॥ २० ॥

पुनर्विमृश्य कथयति—सेनापतेरिति । पूर्वं-प्रथमं, सेनापतेः चैराम-
नामकस्य सेनानायकस्य, आप्तं-श्रेष्ठं व्यभिचारादिदोषशून्यं, कुटुम्बवर्गं-
कलत्रसुतादिकं, रिपोः सकाशात्समुद्धरेयम् । किन्तु इति वितर्के । किं वा
द्विषन्तं-द्वेषं कुर्वन्तं कलये-संग्रामाय अभियान्तम्--अभिमुखमागच्छन्तम्
एनं-लाभपुरसंबन्धिनं सामन्तं दण्डयेयम् ॥२१॥

उभयमपि संपादनीयमेवेति सिद्धान्तः ।

अथ अकवरः शाहवाजनामानमपरं स्वसैनिकं समाशापयति-ससूनु-
मिति । सूनुना-पुत्रेण सहितं, भदेन-अभिमानेन दुर्विदग्धम् आत्मशौर्या-
भिमानिनं, मलिग्लुचं-चौरं, द्विषन्तं-मया सह द्वेषं कुर्वन्तं, खलप्रियं-

वीरप्रतापनाटके

समुत्ता ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे
रस्य । सा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु ।

वज्र-

परुषदुर्गं निर्जने सञ्चरन्ती

यद्विरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।

दुर्विचरन्तः स्वां शोभनां साधयन्तीं

ददति पिशुनलोकास्त्वन्यथैवात्तिपन्ते ॥ ३ ॥

वज्र-~~वज्र~~ इति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

(वज्रः प्रविशति प्रधानसेनापतिः ।)

वज्र-~~वज्र~~ इति उच्यते महाराजः ।

प्रज्ञा-~~वज्र~~ इति उच्यते शिष्टम् ?

सेना-~~वज्र~~ इति उच्यते । चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि

दुर्गं च भवतामाधिपत्ये समागतानि । सर्वेष्वपि दुर्गेषु

भवतां स्वजाः समारोपिताः ।

वज्र-~~वज्र~~ इति उच्यते कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम् ?

सेना-~~वज्र~~ इति उच्यते वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे,

परमरी चरितानि वत्साहवतो चास्माकं सेना ।

परुषदुर्गं वज्रः परकेशा वरुणमुपेक्षते-परनिन्दाभिव परस्त्रिया
इत्येवमेव वज्रः नैः निजवज्रैः ॥ २ ॥

वज्र-~~वज्र~~ इति उच्यते-परपुरुषेति ।

परुषदुर्गं-परकेशा वरुणमुपेक्षते-पुरुषैः, वज्र-परस्व-शत्रोः पुरुषैः अथवा परैः-

उपेक्षते-परकेशा वरुणमुपेक्षते-पुरुषैः केशांशुक्राम् । निर्जने-जनसंघादादिरहिते
स्थाने वज्ररत्नी, परपुरुषैः सह वरुणमुपेक्षते-अन्यगेहे-अन्यस्य

(ततः प्रविशति शाहबाजः)

शाह—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—त्वं यथेच्छं सैन्यं सज्जीकृत्य प्रतापं निगृह्णीयाः ।

ससूनुमेनं मददुर्विदग्धं मलिम्लुचं क्षीणबलं द्विपन्तम् ।

खलप्रियं याचकवद् भ्रमन्त निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम् ॥२२॥

संभावयाम्येवं कृतौ साम्यसंपादने स्वान्ते शान्तिः स्यात् ।

मानसिंह ! त्वमपि स्वसैन्यं सज्जीकृत्य लाभपुरसामन्त-

मुपशमय, अहमपि देहलीपत्तने राज्यस्थानपरिवर्तनं

विधाय अनुपदमेव सज्जितसैन्यः समेप्यामि ।

मन्त्री—महाराज ! कस्मादिदं राज्यस्थानपरिवर्तनं क्रियते ?

अक०—कदाचिद्विवृद्धः प्रताप आक्रामन्ननार्यमाचरेत् ।

मन्त्री—इदं तु नैव संभाव्यते, परं तु अनिष्टसंभावनया पूर्वत-

स्तथा करणे न काचित्क्षतिः ।

(ततो मानप्रभृतयस्तथा कर्तुं निष्क्रामन्ति ।)

अक०—दौवारिक ! अहमिदानीं विश्रान्तिमभिलषामीति विश्रा-

न्तिस्थानमादेशाय ।

दौवा०—इदो आगच्छतु महाराजो ।

इत आगच्छतु महाराजः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके षष्ठोऽङ्कः ।

खलाना-दुष्टानां प्रियं, खलः प्रियो यस्येति वा । याचकवद्-भिक्षुकवद्,
भ्रमन्तम्-इतस्ततो गच्छन्तम्, एन-प्रताप, निहत्य तस्य-प्रतापस्य, प्रमदा-
स्त्रिय, यूय हरध्वम् । अत्र आदरार्थत्वाद्वहवचनम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायमधुराप्रसादकृतौ वैजयन्तीटीकायां

षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

सप्तमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इहोपत्यकायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितः प्रतापः परामृषति)

(ततः प्रविशति म्लेच्छराजसेनापतिपत्नीमादाय उपसेनापतिसहितो गुहः ।)

उपसेनापतिः—

याऽस्माकं करपञ्जरे निपतिता त्वद्वैरिसेनापतेः

कान्ता कान्तपदारविन्दवदना बन्धूकविम्बाधरा ।

खेलञ्चलखञ्जरोटनयना कुन्देन्दुमन्दस्मिता

सेयं त्वच्चरणागता कृतिविधावाह्यां समुद्वीक्षते ॥ १ ॥

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुजोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।

परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥ २ ॥

येति । याऽस्माकं करपञ्जरे—हस्तरूपे पञ्जरे, एतेन सर्वथा परतन्त्रत्वं तस्या व्यज्यते । निपतिता—अनायासेन स्वयमेवागता । कान्ते—मनोहरे पदे यस्याः सा, तथा अरविन्दमिव—कमलमिव, वदनं—मुखं यस्याः सा तथा । बन्धूकं—बन्धूकपुष्पं, विम्बं—विम्बफलं, तद्वत् अघरो यस्याः सा तथा । खेलन्—क्रीडा कुर्वन्, चञ्चलश्च यः खञ्जरोटस्तन्नामकः पत्नी तद्वन्नयने यस्याः सा, 'न क्रोडादिवह्वचः' इति ङीष् निषिध्यते । कुन्देन्दु-वतिस्मृतं यस्याः सा तथा । सा इयं प्रत्यक्षतया उपस्थिता त्वद्वैरिणोऽकब-रस्य सेनापतेः कान्ता इव चरणागता—त्वच्चरणागता सती कृतिविधौ—कृतव्यत्रिपये आज्ञा समुद्वीक्षते, किमियं करोतु इति भवतामशामियं प्रतीक्षते ॥ १ ॥

अथ प्रतापः आर्यधर्मानुसारेण तदृशनादिकं परिहरति—शिशोदिया इति । शिशोदियानामरुक्षत्रियाणां कुले उद्भूतः—उत्पन्नः परकान्तां—परस्त्रियं न वीक्षते नैवावलोकयति । 'परादारान्नाम्युपेयाद्' इत्यम्युपयानं तु दुरापे-त्तम् । शिशोदियाकुलोत्पन्नस्तु वीक्षतेऽपि नेत्यर्थः । परापवादेन सदृशं—

तस्माद्युनैव ससुतां ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे
नयस्व । मा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनो तिष्ठतु ।
यतः—

परपुरुषपरीतां निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।
बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं
तदपि पिशुनलोकास्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥ ३ ॥

उ० से०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशति प्रधानसेनापतिः ।)

सेनापतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—विजेतुं कियदवशिष्टम् ?

सेना०—न किञ्चिदवशिष्यते । चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि
दुर्गाणि भवतामाधिपत्ये समागतानि । सर्वेष्वपि दुर्गेषु
भवतां ध्वजाः समारोपिताः ।

मन्त्री—चित्रपुरदुर्गं विजये कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम् ?

सेना०—आज्ञासमनन्तरमेव वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे,
परमशौर्यशालिनी उत्साहवती चास्माकं सेना ।

परनिन्दातुल्यं तस्याः परस्त्रिया वर्णनमुपेक्षते—परनिन्दामिव परस्त्रिया
वर्णनमपि श्रोतुं नैवाभिलषतोत्सर्गः ॥ २ ॥

अथ रात्रौ स्वजनरहितायास्तस्याः स्थितिं प्रतिपेक्षयति—परपुरुषेति ।
परपुरुषैः—स्वकीयातिरिक्तैः पुरुषैः, यद्वा—परस्य—शत्रोः पुरुषैः अथवा परैः—
शुभावस्थामापन्नैरुत्कृष्टैः पुरुषैः पगीता युक्ताम् । निर्जने—जनसंचारादिरहिते
स्थाने सञ्चरन्ती, परपुरुषैः सह परिभ्रमन्तीमित्यर्थः । बहिरपि च—स्वगेहा-
दतिरिक्ते स्थाने स्वग्रामातिरिक्ते स्थाने वा रजन्या-रात्रौ अन्यगेहे-अन्यस्य
गेहे वसन्ती—निवासं कुर्वतीम् । 'बहिरन्यगेहे' इदं ब्राह्मणश्रमणन्यायाद्वा-
ऽवगन्तव्यम् । बहुविधशपथैः—दिव्याग्निप्रवेशादिभिः शपथैः स्वामात्मानं
शोभना शुद्धा पापरहिता साधयन्तीं तदपि शुद्धत्वमिदावपि पिशुनलोकाः-

किं म्लेच्छराजमधुनैव हरेम गत्वा

किं वाऽपि चित्रपुरमेव नयेम जित्वा ।

मानोद्धतं स्वजनमेव सदा द्विपन्तं

मानं जयेम किमु गर्वमलं चरन्तम् ॥ ४ ॥

प्रता०—सेनापते ! चित्रपुरदुर्गेऽस्मत्पितृव्यः सगरस्तिष्ठतीत्यस्म-
दधिकारे एवेति मा तावच्चित्रपुरजयाय प्रयतताम् ।
म्लेच्छराजस्य चाभिमानम् अहमेव चूर्णयिष्ये । अतः
केवलं मानस्य गर्वः प्रध्वंसितव्यः, इत्यामेरं माननगरं
लुप्टयध्वम्, यदि मानः समुपलभ्येत तदा सोऽपि वद्-
ध्वाऽऽनेतव्यः ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः)

(मन्त्रिसहितः प्रतापः परिक्रामति ।)

परनिन्दका मूर्खजना अन्यथैव आक्षिपन्ते, तां दुश्चरित्रामेव कथयन्ति ।
तस्माद् यथा रात्रौ स्वगेहे एवासौ गच्छेत्तथा विधातव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ सेनापतिः स्वशक्तिं प्रदर्शयन् कथयति—किं म्लेच्छराजमिति ।
किम् अधुनैव—अस्मिन्नेव क्षणे गत्वा म्लेच्छराजं म्लेच्छाधिरतिमकबरं
हरेम- हठाद् गृहीत्वा आनयेम । क्विमण्योहरणादिवत्सर्वसमस्तं हठादान-
यनेऽपि हृषातोः प्रयोगः । किं वाऽपि चित्रपुरमेव—चित्तार इति लोकमा-
पायां प्रसिद्धं दुर्गं जित्वा नयेम—आनयेम । त्वदाधिरत्यबाधकं तत्र त्वद्वज्र-
जारोपणं कृत्वा तदुद्धाटनकुञ्चिकामानयेमेत्यर्थः । किमु किं वा मानेन-
अभिमानेन उद्धतं सदा स्वजनमेव स्वकीयक्षत्रियशक्तिमेव द्विपन्तं गर्वस्य
मलं किञ्च चरन्त-भक्षयन्तं मिथ्याभिमानं कुर्वन्तम्, यद्वा—अल पर्याप्तमत्य-
न्तमित्यर्थः । गर्वं चरन्तं—विदधतं मानं-मानसिद्धं जयेम । सर्वमपि वयं
कर्तुं शक्नुमः, यदेवाज्ञायिष्यसि तदेव करिष्याम इति भावः ॥ ४ ॥

अकबरः प्रतापस्य अनिर्वचनीयां शक्तिं प्रदर्शयति—किमिति ।
किमिति विमर्शः । शम्भुः—एकलिङ्गेश्वरः, स्वयम् अस्य ध्वजिनी—सैन्यं
जनयति । मा मद्गतः पराजितः स्यादिति सेनामेव स्वप्रमावेष्टेत्पाद-
यति । किं वा स्वकीयं गणं-वीरभद्रादिकं तत्रैव ध्वजिन्यामेव प्रताप-

(पटोन्नयनम्)

(किंकर्तव्यताविमूढ इव मन्त्रिद्वितीयोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०—मन्त्रिन् ! इदानीं प्रतापः कामप्यनिर्वचनीयां शक्तिमापन्न
इव प्रतिभाति । पश्य—

शंभुः स्वयं जनयति ध्वजिनीं किमस्य

तत्रैव वा गणमुपानयते स्वकीयम् ।

येन क्षणेन निहतो मम वीरसंघो

दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि सपर्वतानि ॥ ५ ॥

मन्त्री—नूनमयमिदानीं देवीं शक्तिमापन्नः । कथमन्यथैकेन
सर्वानारक्षकान्निहत्य सेनापतिपत्नी वन्दीकृता ।

(ततः प्रविशति सैन्यादायातः सेनापतिः ।)

सेना०—जयतु जयतु देवः !

अक०—किं प्रतापेन दासीकृतास्ताः स्त्रियः ?

सेना०—शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ! तेन तु अनुपदमेव ताः

सर्वा अपि सबहुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः

परमौदार्यसंपन्नश्च । किं बहुना—

परस्त्रियं यो मानसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।

चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन्न चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥६॥

साहाय्यार्थं तत्सेनायामेव उपानयते—प्रापयति । येन हेतुना प्रतापेन वा
मम वीरसंघो—वीरसमूहः क्षणेन निहतो-विनाशितः । सपर्वतानि—पर्वतेन
सहिंसानि दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि—स्वायत्तीकृतानि । साधारणमनुष्य-
सेनाया नैतत्कार्यमिति तदाशयः ॥ ५ ॥

अथ अकबरसेनापतिः प्रतापस्य सञ्चारिण्यं वर्णयति—परस्त्रिय-
मिति । यः प्रतापो मनसाऽपि परस्त्रियं न ईक्षते स एव दासीं कथं नु
विधास्यते । एवंविधः सञ्चरित्रः कथं नु दुरचरित्रं—दासोसंयमनादिकं
कर्म कुर्यात् । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयति—स्वप्रभया—स्वकीयतेजसा चराच-
रं जङ्गमस्थावरादिकं सकलं संसारं प्रकाशयन् अर्थमा—सूर्यः, तमस्ततिम्—

अक्र०—किमिदानीमेकलिङ्गेश्वरादलौकिकीं शक्तिमापन्नोऽयम् ?

सेना०—युक्तं संभाव्यते ।

न पक्षपातान्न रणाद्भिया वा वैराग्यतो वा न च बोधयामि ।
किं तु त्वदीयं कुशलं प्रपद्ये प्रतापतः प्रार्थनयैव सन्धेः ॥ ७ ॥

किञ्च—दैवीं महाशक्तिमसौ प्रपन्नो

विवर्द्धमानः किमिहापि यायात् ।

क्रुद्धः स चाक्रम्य तदाचरेद् य-

न्न वाच्यमेतत्परिभाषनीयम् ॥ ८ ॥

अन्वकारपरंपरां गाढान्धकारमित्यर्थः । न च नैव उत्पादयते, पुरथात्मा
प्रतापः पापकर्म नैवाचरतीति भावः ॥ ६ ॥

अथ सेनापतिरकचरस्य प्रतापे आश्चर्यातिशयमवलोक्य सन्धि
प्रस्तुते—न पक्षपातादिति । अहं पक्षपातान्न बोधयामि, प्रतापस्य
साहाय्यार्थं नैव कथयामीत्यर्थः । वा-अथवा रणात्संग्रामाद् भिया-भयेन
न बोधयामि । वा अथवा वैराग्यतः संग्रामे द्विषाद्यवलोकनेन तदुपरामाद्
न च नैव बोधयामि । किन्तु त्वदीयं कुशलं-कल्याणं प्रतापतः सन्धेः
प्रार्थनयैव प्रपद्ये-श्रवणञ्छामि । एतत्त्वत्कल्याणार्थमेव सूचयामीत्यर्थः ।
बौद्धकृतापादानत्वविवक्षया प्रतापतः इत्यत्र पञ्चमो ॥ ७ ॥

अथ सन्ध्यकरणे अनिष्टं दर्शयति—दैवीमिति । असौ प्रतापः दैवी-
लोकोत्तरां देवताप्रसादजन्यां महाशक्तिं संहारादिकारिणीं-महतीं शक्तिं
प्रपन्नः प्राप्तः विवर्द्धमानः क्रमेण त्वदीयराज्यमाक्रामन्, किमिति वितर्कं
कदाचिदिहापि त्वन्नगरेऽपि यायात्प्राप्नुयात् । संभावनाया लिङ् । स च
तदा तस्मिन्समये क्रुद्धः सन् आक्रम्य-त्वदुपरि आक्रमणं विधाय यद्
आचरेत् । 'जातुयदीर्लिङ्' इति लिङ् । एतन्न वाक्यम्, अमङ्गलत्वा-
न्मया नैतदुच्यते, किन्तु परिभाषनीयमेवैतत् । स चाक्रम्य त्वां हनिष्यतीति
भावः ॥ ८ ॥

मन्त्री—महाराज ! बाढमयमनिर्वचनीयां शक्तिमापन्नः । पश्य—

यः प्रत्यर्थिविराडरण्यदहने प्रोद्यद्वाग्नीयते

यः क्रूरारिगजेन्द्रवृन्ददहने क्रुध्यन्मृगेन्द्रायते ।

यः कौटिल्यकलातमिस्रहरणे भास्वत्प्रकाशायते

सोऽयं पूर्णबलः प्रतापविजयः शश्वद् विजृम्भायते ॥६॥

तस्मादसौ सन्धिप्रार्थनया शुद्धमनसा भवता समर्थितव्यः ।

अक०—यथा युवयोरनुमतिः (मसी पत्रं चानाद्य सन्धिपत्रं लिखति ।

स्वकीयमुद्रयाद्धितं विधाय तत्रैव स्वकीयेन स्थितेन अनुचरेण
प्रतापसविधे प्रेषयति । ।

(इति पत्रं गृहीत्वा स निष्कामति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इहोपत्यकार्या कतिचित्स्वसामन्तसहितः प्रतापः सानन्दं परामृशति ।)

(ततः प्रविशति वीणां वादयन्ती प्रतापविजयं गायन्ती योगिनी ।)

योगिनी—

हर हर जय जय देव !

जय प्रताप ! जय भारतभूषण जय वसुधाधिप ! देव !

अथ मन्त्री तमेव सन्धिप्रस्तावं समर्थयितुं पूर्वं तत्प्रशंसामाह-
य इति । यः प्रतापः प्रत्यर्थिनो-विपत्त्या ये विराजः-क्षत्रियाः 'बाहुजः क्षत्रियो
विराड्' इत्यमरः । ते-एव अरण्यानि-वनानि तेषां दहने-सर्वथा नाशने
प्रोद्यन्-देदीप्यमानो यो द्वाग्निस्तद्दिव्य आचरतीत्यर्थः, विपक्षक्षत्रि-
याणां नाशकः । तथा क्रूराः-क्रूरप्रकृतिकाः ये अरयः-शत्रवस्ते एव
गजेन्द्राः-श्रेष्ठगजास्तेषां वृन्दस्य-समूहस्य दहने क्रुध्यन्-क्रोधयुक्तो यो
मृगेन्द्रः-सिंहस्तद्दिव्य आचरतीत्यर्थः । तथा कौटिल्यस्य-कूटिलताया या
कला सैव तमिस्रमन्धकारस्तस्य हरणे-दूरीकरणे, भारतः-सूर्यस्य यः
प्रकाशस्तद्दिवानरति । यथा सूर्यप्रकाशे अन्धकारो नैव तिष्ठति एव-
मेवास्य समर्तं कौटिल्यकलाऽपि नैव तिष्ठतीत्यर्थः । स अयं प्रतापविजयः
शश्वत्-निरन्तरं विजृम्भायते क्रमशः यथंते एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

हर हर जय जय देव !

जय जय धर्ममार्गपरिरक्षक ! जय मर्यादाभूप !

जय शिशोदियावंशविभूषण ! जय हरिहरप्रतिरूप !

हर हर जय जय देव !

जय यवनाधिपमानविमर्दक ! जय जयविजयमदेश !

जय तुरुष्कसेनापतिमर्दक ! जय करवालसुरेश ! ॥ ११ ॥

त्वं हर हरेति । हरति-नाशयति संसारमिति हरः, तत्सम्बुद्धौ हर !
 वीप्सायां वा द्वित्वम् । हे देव त्वं जय जय-सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो
 भव । प्रतापपत्ने शत्रुसैन्यनाशकत्वात् हर इति । मित्राणामुत्तमपुरुषाणां
 वा संपत्तिप्रापकत्वाद्वा हरेति । जय प्रताप ! । भारतस्य भूषणम् अलं-
 कारकारणत्वाद् भूषणस्वरूपम् । वसुधायाः-पृथिव्या अधिपः-प्रभुस्तत्सं-
 बुद्धौ । एतत्पर्यन्तं ध्रुवगानपदम् । हे धर्ममार्गस्य-श्रौतस्मार्तधर्मप्रवर्तकस्या-
 चारस्य परिरक्षक ! जय जय-त्वं सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो भव । मर्यादा-
 या भूपः-मर्यादाधिपतिस्तत्संबुद्धौ । हे शिशोदियावंशस्य विभूषण !
 शोभाकारक ! हे हरिहरप्रतिरूप !, विष्णुशिवसदृश !, पालनसंहारकारक-
 त्वात्तयोः सादृश्यम् । हे यवनाधिपस्य-अकबरस्य यो मानोऽभिमानस्तस्य
 विमर्दक-नाशक ! अथवा-यवनाधिपस्य मानस्य-मानसिंहस्य विमर्दक
 विध्वंसक ! जयविजयनामकगणयोर्मदेश ! प्रभो ! विष्णुरूप ! अथवा विज-
 यस्य मदेश ! महाप्रभो !-सर्वदा विजयशालिन् ! जय जय-सर्वदा ते
 जयो भवतु । हे तुरुष्कसेनापतेः मानसिंहस्य वा शाहवाजस्य वा सली-
 मस्य वा मर्दक ! तत्तत्समयेषु परिमर्दनकारकत्वात् । यथा सलीमो हल्दी-
 पाटिकबंधे परिमर्दितः, मानसिंहो माननगर (आमेर) लुण्ठने चन्देन
 परिमर्दितः, शाहवाजश्च शक्तिसिंहेन परिमर्दितः इति इति बोध्यम् ।
 करवालस्य-राहुस्य, सुरेशः-इन्द्रः सर्वथाधिपतिरित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ,
 जय जय ॥ ११ ॥

शक्ति०—ससैनिकं समायान्तं शाह्वजं समुद्धतम् ।
विनिहत्य ससैन्यं तं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥१२॥

प्रता०—अहो भ्राता शक्तिसिंहः ! (इति समुत्थाय तमालिङ्गथ
स्वसमीपे उपवेशयति ।

(पुनर्योगिनी गायति)

हर हर जय जय देव !

अय प्रताप ! जय भारतभूषण ! जय वसुधाधिप ! देव !

हर हर जय जय देव !

जय जय माननगरविध्वंसक ! जय राजकतारेश !

जय जय मानमानविच्छेदक ! जय मेवाडनरेश ! ॥१३॥

(ततः प्रविशति माननगर (आमेर) विध्वंसकः प्रतापसेनापतिः ।
योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता ।)

(अत्रान्तरे प्रविशति शक्तिसिंहः । योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता)

प्रणमन्सन् स्वकायमपि बोधयति—शक्तिः—शक्तिसिंहः सैनिकैः
सहितं—ससैनिक, समायान्तं—युद्धाय समागच्छन्तं समुद्धतं महोद्धतं
शाह्वजमेतन्नामकमकवरसेनारति ससैन्यं—सेनासहितं तं विनिहत्य—
मारयित्वा ते—तव पदे प्रणतः, नमस्कारं करोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

असंभावितस्य भ्रातुः प्राप्तेराश्चर्यरसाविष्टः सन् प्रतापः कथयति—
अहो भ्राता शक्तिसिंहः ।

अथ पुनर्योगिनी गायति—हर हरेति । हे माननगरस्य—आमेराख्य-
मानपुरस्य विध्वंसक । जय जय—सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । राजके-
नृपतिगण्ये तारेशः, चन्द्रसदृशः, यथा तारागण्ये चन्द्रस्तथा नृपतिसमूहे
भवान् । अय राजकम् । 'राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गण्ये कमाद्'
इत्यमरः । तत्सम्बुद्धौ । तथा हे मानस्य—मानसिंहस्य यो मानोऽभिमानस्त-
स्य विच्छेदक ! विधातक ! जय जय । हे मेवाडनरेश ! जय जय ॥१३॥

सेना०—असावामेरलुण्टाको मानगर्वविमर्दकः ।

अयं सेनापतिश्चन्द्रो वन्दते त्वत्पदाम्बुजम् ॥१४॥

(इति पादौ प्रथमति ।)

प्रता०—साधु सेनापते ! साधु । (इति तत्पृष्ठमास्फालयति, उप-
सन्निहितं, तमुपवेशयति)

(पुनर्योगिनी गायति)

हर हर जय जय देव !

जय प्रताप ! जय भारतभूषण ! जय वसुधाधिप ! देव !

जय सन्धौ तुरुष्कसंप्रार्थित ! जय सञ्चरितदिनेश !

जय नरपते ! स्वतन्त्रधराधिप ! जय जय जितयवनेश ! ॥१५॥

(इति गायन्ती अन्तर्हिता ।)

ततः प्रविशति माननगरावध्वंसकरश्चन्द्रावत्सेनापतिः—असी इति ।
आमेरस्य—आमेराख्यमाननगरस्य लुण्टाकः, मानस्य—मानसिंहस्य यो गर्वा-
ऽभिमानस्तस्य विमर्दकः अथौ प्रत्यक्षतया विद्यमानस्तव सेनापतिश्चन्द्रः
त्वत्पदाम्बुजं वन्दते । चन्द्रस्य अम्बुजं प्रति प्रणामः शत्रुत्वात्स्वापराध-
शमनार्थमेव । अयं चन्द्रः—चन्द्रावन्नाम्ना प्रसिद्धः पूर्वं मन्त्री आसीत्,
इदानीं तु स एव सेनापतिः । चन्द्रावत्शकावत्नाम्ना प्रसिद्धौ द्वावपि
सामन्तौ स्तः ॥ १४ ॥

अथ तत्कर्मणा प्रसन्नः प्रतापस्तत्पृष्ठमास्फालयति । स्वसमोपमेवोप-
वेशयति ।

पुनर्योगिनी गायति—हर हर इति । हे सन्धौ—सन्धिविषये तुरुष्केण
संप्रार्थित ! हे सञ्चरितस्य—उत्तमचरित्राणां सदाचारस्य वा दिनेश !
सूर्य ! यथा सूर्यो घटपटादिपदार्थानां, प्रकाशकस्तथाऽयमपि सदाचारस्य
प्रवर्तकः प्रकाशकरश्च, तत्सम्बुद्धौ । हे नरपते ! हे स्वतन्त्रा—पराधिकार-
शून्या या धरा—पृथ्वी तस्या अधिप ! प्रमो !, जयं । यद्वा—हे स्वतन्त्र !
पराधीनतारहित ! हे जितो यवनेशोऽक्रवरो येन स तत्सम्बुद्धौ, हे जित-
यवनेश ! जय जय—सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । इति गायन्ती योगाम्नासवला-
दन्तर्हिता जाता ॥१५॥

ततः प्रविशति सन्धिपत्रमादाय अकबरस्यानुचरः । स च प्रतापपादयो-
र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्रं समर्पयति । प्रतापस्तदुद्धृत्य सर्वान्
भावयति ।)

श्रीमत्सु श्रौतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-
पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते ।

स्वतन्त्रो. सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिनः ।

पूज्याः सीमामनुल्लङ्घ्य शान्तिं कुर्वन्तु विश्वतः ॥१६॥

इति भवदीयः प्रियसुहृदकबरः

प्रताप—स्वीकृतस्ते सन्धिरिति श्लेच्छाधिपतिं संदिश । (ततः
सप्रणयमकबरस्यानुचरो निष्क्रान्तः)

प्रतापः सन्धिपत्रं भावयति—श्रीमत्सु इत्यादि । श्रोः—सपल्लवमी-
र्विद्या वा तद्युक्तेषु, श्रौतः—श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहितः, स्मार्तः—स्मृत्यादिस्त-
दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गोः श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्याः
घेन्वा वा ब्राह्मणानां च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-
वस्त्राच्छादनादिसाहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः
प्राणान्परिस्पृजेत्' इति स्मृत्यादिषु विधानात्प्राणपणेन तद्रक्षकेषु, आर्य-
पतिप्रतापेषु । आर्याणामधिपतिः प्रताप एव स्वातन्त्र्येण तेषां सरक्षक-
त्वात् । असौ अकबरः सप्रणयम्—अधीनतासहितं यथा शक्यं तांशुते
सन्धिं याचते, न तु स्वातन्त्र्येण कथयतीत्यर्थः ।

गुहः—अचचरियम् ! अचचरियम् ! । एकलिङ्गप्रहावेण अम्हाण
 आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! । एकलिङ्गप्रमावेणास्माक
 पहुणो सव्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव्व संपुण्णो जाओ
 प्रभोः सर्वोऽपि मनोरथो युगवदेव संपूर्णो जात ।
 आमेरं माणणअरं विलुण्ठिय माणसीहगव्वो वि-
 आमेर माननगर विलुण्ठय मानसिहगवो वि-
 चुण्णिओ । आकमणमहिलसन्ती सव्वा चेव अगवर
 चूर्णितः । आक्रमणमभिलपन्ती सर्वा एव अकवर-
 सेणा नासिआ । अचचरियं ! अचचरियं ! अगवरो अ मानं
 सेना नाशिता । आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! अकवरश्च मान
 चइत्ता अम्हाण पहुणो पदावस्स चरणम्मि णिवइओ ।
 त्यक्त्वाऽस्माक प्रभोः प्रतापस्य चरणे निपतितः ।

शक्ति०—(प्रताप प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनिवंचनीया
 शक्तिः विद्युदिव सर्वतो घमनीषु शौर्योदार्यशक्तिं संचा-
 रयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति ।

श्रीगोः क्षत्रियत्वेन पूजार्हा वा । सोमा—स्वकीयसोमान यावत्पर्यन्तमि-
 दानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमाम् । 'सीमसामे स्त्रियामुमे' इत्यमरः ।
 अनुल्लङ्घय स्वसोमायामेव स्थितः सन् विश्वतः 'सप्तम्यर्थे तसि.' विश्व-
 सिमन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु । शान्तिकरणं त्वदधीनमेवेति सन्धि
 प्राथयते । तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः । इति एतत्प्रार्थयते भवदीयः
 प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् 'सुहृद्दुहृदौ मित्रामित्रयो' इति हृदयशब्दस्य
 मित्रेऽर्थे हृदित्यादेशः । प्रियमित्रमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ गुहो मिल्लराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोक्य आश्चर्यरसा-
 विष्टः कथयति—आश्चर्यमित्यादि । किं तत्कार्यमिति दर्शयति—आमेर-
 नगरस्रष्टनेन मानसिहगवविमर्दनमसंभावितमिवासीत्तदपि एकलिङ्ग
 प्रमावेण जातम् । प्रलयकालिकसमुद्र ह्वायान्ती अकवरसेना शक्तिं सिद्धेन
 क्षणमात्रेणैव नाशिता । अहो आश्चर्यं करमिदं महत्कार्यं जातम् ।

तत प्रविशति सन्धिपत्रमादाय अकबरस्यानुचर । स च प्रतापपादयो-
र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्रं समर्पयति । प्रतापस्तदुदाहृत्य सर्वान्
भावयति ।)

श्रीमत्सु श्रौतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-
पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते ।

स्वतन्त्रो सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिन ।

पूज्या सीमामनुल्लङ्घ्य शान्तिं कुर्वन्तु विश्वत ॥१६॥

इति भवदीय प्रियसुहृदकबर

प्रता०—स्वीकृतरते सन्धिरिति ग्लेच्छाधिपतिं संदिश । (तत
सप्रणयमकबरस्यानुचरी निष्का त)

प्रताप सन्धिपत्रं भावयति—श्रीमत्सु इत्यादि । शो —सपल्लक्ष्मी
विद्या वा तद्युक्तेषु श्रौत-श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहित, स्मार्त स्मृत्यादिस्त
दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गो श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्या
केवा वा ब्राह्मणानां च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-
वस्त्राच्छादनादिसाहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्य
प्राणान्परित्यजेत्' इति स्मृत्यादिषु विधानात्प्राणपण्येन तद्रक्षकेषु आर्य-
पतिप्रतापेषु । आर्याणामधिपति प्रताप एव स्वातन्त्र्येण तेषां सरक्षक-
त्वात् । असौ अकबर सप्रणयम्-अधीनतासहितं यथा स्यात्तथा, प्राययते
सन्धिं याचते, न तु स्वातन्त्र्येण कथयतीत्यर्थः ।

किं प्रार्थयते इत्याह—स्वतन्त्रा इति । सन्त उत्तमाः सदाचार-
सम्पन्ना भवन्त आदरणीया सर्वत सर्वतोभावेन स्वतन्त्रा, देशाधिकार-
शासनादिसर्वकार्येषु स्वाधिपत्ययुक्ता, न च युष्माकं राज्ये करग्रहणसृष्ट्या
घय करिष्याम, नापि युष्माकं शासनप्रबन्धे किञ्चिदपि हस्तक्षेपं विधा-
स्याम सर्वमेतत् 'सर्वत' इति पदेन व्यज्यते । तथा भवन्तो मम मानिन ।
यदि किञ्चिदप्यस्माकमनौचित्यं भवन्तो बोधयिष्यन्ति तत्स्वरितमेव
निवर्तयिष्याम । अपि च भवन्त पूज्या अस्माकं सर्वतोभावेन आदर-

गुहः—अच्चरियम् ! अच्चरियम् ! । एगलिङ्गप्रहावेण अम्हाण
 आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! । एकलिङ्गप्रभावेणास्माकं
 पट्टणो सव्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव्व संपुण्णो जाओ
 प्रमोः सव्वोऽवि मनोरथो युगवदेव संपूणां जातः ।
 आमेरं माणणअरं विलुण्ठिय माणसीहगव्वो वि-
 आमेरं माननगरं विलुण्ठिय मानसिहगव्वो वि-
 चुण्णिओ । आकमणमहिलसन्ती सव्वा चेव अगवर
 चूर्णितः । आक्रमणमभिलपन्ती सर्वा एव अकवर-
 सेणा नासिआ । अच्चरियं ! अच्चरियं ! अगवरो अ मानं
 सेना नाशिता । आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! अकवरश्च मानं
 चइत्ता अम्हाणं पट्टणो पदावस्स चरणम्मि णिवइओ ।
 त्वक्त्वाऽस्माकं प्रमोः प्रतापस्य चरणे निपतितः ।

शक्ति०—(प्रतापं प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनिवेचनीया
 शक्तिः विशुदिव सर्वतो धमनीपु शौर्यौदार्यशक्तिं संचा-
 रयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति ।

शोषः क्षत्रियत्वेन पूजार्हा वा । सीमां—स्वकीयसीमानं यावत्पर्यन्तमि-
 दानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमान् । 'सीमसीमे स्त्रियामुभे' इत्यमरः ।
 अनुल्लङ्घय स्वसीमायामेव स्थितः सन् विश्वतः 'सप्तम्यर्थे सतिः' विश्व-
 स्मिन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु । शान्तिकरणं त्वदधीनमेवेति सन्धि
 प्राथयते । तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः । इति एतत्प्राथयते भवदोषः
 प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति हृदयशब्दस्य
 मित्रेऽर्थे हृदित्यादेशः । प्रियमित्रमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ गुहो भिल्लराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोच्य आक्षर्यंरसा-
 विष्टः कथयति—आश्चर्यमित्यादि । किं तत्कार्यमिति दर्शयति—आमेर-
 नगरलुण्ठनेन मानसिहगव्वविभ्रमंनसंभाषितमिवासीत्तदपि एकलिङ्ग
 प्रभावेण जातम् । प्रलयकालिकसमुद्र इवायान्ती अकवरसेना शक्तिसिंहेन
 क्षणमात्रेणैव नाशिता । अहो आश्चर्यंकरमिदं महत्कार्यं जातम् ।

प्रता०—एवमेवैतत् । सेयं तपोवलेनेमां शक्तिमापन्ना ।

राजगुरुः—(प्रविश्य) प्रताप ! साधु त्वयाऽऽर्यमर्यादा रक्षिता ।
 म्लेच्छराजश्च नम्रीकृतः ।

आज्ञा सर्वेशिरामणिप्रणयिनौ भक्तिश्च ते भारते
 सौजन्यं परमं सुत प्रणयवान् कान्ता मनोहारिणी ।

राज्यं सन्निरुपद्रवं प्रकृतयो गाढानुरक्तास्त्वयि
 स्तोत्रं सिन्धुपरात्परं किमपरं भूय प्रियं कुर्महे ॥ १७ ॥

प्रताप.—तथापि इदं भरतवाक्यमस्तु—

सर्वे सत्पथगामिन शिवरताः स्वातन्त्र्यदेवप्रियाः

ब्रह्मण्या निजधर्मकर्मकुशला राष्ट्रानुगा मानिनः ।

विद्वासः स्वकदारमात्रनिरता दक्षा दृढप्रत्यया

भूयासुर्गसुधाधिपा नयविदः पुण्ये पुनर्भारते ॥ १८ ॥

राजगुरुः तथाऽस्तु ।

(इति भूयः पठति ।)

पठोत्तेन)

यद्यमवधरी मान—स्वाभिमान मानसिद्ध वा त्यक्त्वा अस्माक प्रभो-वरणे
 निपतितः । एतेन स्वस्यापि कायसिद्धिः सूचिता भवति । अन्यस्तुगमम् ।

सेयमिति । या ज्ञात्वा नटजातिविशिष्टा आसीत्सैवैयम् । तपसो
 वलेन इमां शक्तिमापन्नेति ।

सर्वे इति । सर्वे सत्पथगामिनो भूयासुः । शिवे—कल्याणे, आत्मनो
 लोकस्य वा कल्याणे रताः । यद्वा शिवे-शङ्करोपासनायां रतास्तत्पराः ।
 तथा स्वातन्त्र्यस्य स्वतन्त्रताया अधिष्ठायका यो देवः स प्रिया येषां ते
 तथा । यद्वा स्वातन्त्र्यं च देवश्च देवो विष्णुः शिवो वा । स्वातन्त्र्यदेवो ।
 सौ प्रियो येषां ते तथा । 'वा प्रियस्य' इति प्रियस्येति परनिवात । यद्वा
 स्वातन्त्र्ये देवप्रियाः । देवानां प्रिया-देवप्रियाः । देवानां प्रिय इति तु
 मत् । अन्यत्र देवप्रियाः । ब्रह्मण्याः ब्रह्ममत्ता । निजे-आत्मीये ये

इति श्रीविद्यावारिधिसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायमधुराप्रसाद-
दीक्षितकृतौ वीरप्रतापनाटके सप्तमोऽङ्कः समाप्तः ।
समाप्तं चेदं नाटकम् ।

धर्मकर्मणी तत्र कुशलाः । राष्ट्रस्य अनुगाः । मानिनः—मानयुक्ताः नत्वमि-
मानशून्याः । विद्रोहः पण्डिताः सदसद्विवेकवेत्तारः । स्वकदारमात्रे
निरताः स्वदारसंतुष्टा इत्यर्थः । दक्षाः—कार्यकुशलाः । दृढः प्रत्ययः
स्वधर्मे विश्वासी येषां ते तथा । नयविदः—नीतिनिपुणाः समया-
नुकूल्येन राष्ट्रमेवाकारकाः, वसुधाधिपाः—वसुधायाः सर्वविधसमृद्धि-
संपूरितायां भारतभूमेरधिपाः प्रभवो राजानः पुण्ये—पवित्रे भारते पुनः
मूषासुः । पवित्रे भूयः पूर्वोक्तगुणविशिष्टा राजानो भवन्त्विति
तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

यत्तु अन्यसमाप्तावपि अङ्कसमाप्तौ 'निष्क्रान्ताः सर्वे' इति 'अन्त-
निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः' इति विश्वनाथवचसा निष्क्रामणं
कारयन्ति, तन्नातितरा रोचते । निष्क्रमणानन्तरं शून्यस्यानावलोकनेन
सामाजिकानां वैरस्यं स्यात् ।

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायमधुराप्रसाददीक्षितविरचितायां वैजयन्ती-
टीकायां सप्तमोऽङ्कः ।

समाप्ता चेयं वैजयन्ती ।

अथ टीकाकर्तुः परिचयः—

शताब्द्यां षोडशीयायां शिवराजपुराधिपैः ।
 चिकीर्षितं विष्णुयागं श्रीकान्तो द्रण्डुमाययौ ॥१॥
 यज्ञे यज्ञाग्निनीतौ विकलतरलितान्मानुषान्प्रेक्ष्य धीरः
 प्रोवाचेत्थं त्वयैवं किमिह विधिविधौ बाह्यवहेर्विधेयम् ।
 आक्षिप्तस्तर्हि कार्यस्तव यदि महिमाऽभ्यन्तराग्निप्रसूतो
 हुं कृत्वा मन्त्रशक्त्याऽनिलमधियजनं दीप्तिमन्तं निनाय ॥२॥
 अथ विदुषामनुरोवाद्राज्ञश्चाप्यनुनयादचोकरत् ।
 यज्ञं स्वयं च कृतवान् दीक्षितपदवीं ततः प्राप्तः ॥ ३ ॥
 अद्वितीयमहिमा स बभूव कान्यकुब्जवरभूसुरमध्ये ।
 तोषितः स्वकृतितो वरवर्णी सोऽपि चाशिपमदत्त ततोऽस्मै ॥४॥
 भवत्कुले तिष्ठतु सर्वदा सती सरस्वती साधुपदा दृढारपदा ।
 विहाय वैरं गिरया च शाश्वतं न जातु पद्मा विजहातु ते कुलम् ॥५॥
 भास्वद्भूरिप्रतापः सकलबुधगणेष्वग्रणीभूरिकीर्ती
 राज्ञां मान्यो वरेण्यो हरिहरचरणस्तस्य वंशोऽजनिष्ठ ।
 तत्पुत्राः पठ्यन्ता जाता निगमनयविदस्ते च विद्वत्सु पूज्याः
 सर्वे सिद्धान्तविज्ञाश्चरकविधिवुधा वैद्यवर्या बभूवुः ॥ ६ ॥
 सकलमहीसुरमण्डनवर्यः शास्त्रायमर्मज्ञः ।
 वदरोनाथो धीरो हरिहरपुत्रो भिषग्वरो जातः ॥ ७ ॥
 तदात्मजोऽहं मथुराप्रसादः सुधियां मतः ।
 तस्य मे विदुषां स्वान्ते कृतिर्विजयतामियम् ॥ ८ ॥

BHAVAN'S LIBRARY
BOMBAY-400 007.

N B—This book is issued only for one week till _____
This book should be returned within a fortnight
from the date last marked below

Date	Date	Date